

“....आपके साथ जो गुजरता है उसे विस्मृत करके क्या आप कोरा कागज हो सकते हैं? मस्तिष्क का सहज धर्म तो यही है न कि जो आपके साथ हो रहा है उसी को लेकर आप दुखी या प्रफुल्लित होते रहें। हर क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। कोई लाख उसके प्रभाव को दूर करना चाहे पर वह छूत की तरह लगकर रहता है। इसमें लाभ-हानि का भी कोई प्रश्न नहीं है।...

इसी उपन्यास से

लेखक ने दाम्पत्य जीवन की विषमताओं और विडंबनाओं को 'अनदेखे पुल' में समग्रता से रेखांकित किया है और पारस्परिक समझ के प्रभाव में बढ़ती संवादहीनता की खाई को भी उसकी भयावहता के साथ अंकित किया है पर दाम्पत्य में स्नेह, समर्पण और संवाद का खुलापन द्वैध को किस प्रकार काट देता है। यह भी निर्दिष्ट किया है, सहजीवन और सहअस्तित्व के लिए गहरी सम्पृक्ति अपेक्षित है और वही एक ऐसा पुल है जो द्वैध की खाई को पाटने में समर्थ है।

विलक्षण दार्शनिक चिंतन और जीवन मूल्यों से आपूरित यह कृति निश्चय ही पाठकों को दृष्टि सपन्नता प्रदान करेगी।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

संख्या.....
स्तक संख्या.....
म संख्या..... १३६२६.....

“.....आपके साथ जो गु
करके क्या आप कोरा
हैं? मस्तिष्क का सहज
कि जो आपके साथ
लेकर आप दुखी या
हर क्रिया की एक प्र
कोई लाख उसके प्रभाव
पर वह छूत की तरह
इसमें लाभ-हानि का
है।...

लेखक ने दाम्पत्य जी
और विडंबनाओं को
समग्रता से रेखांकित कि
समझ के प्रभाव में बढ़
खाई को भी उसकी
अंकित किया है फ
समर्पण और संवाद र
किस प्रकार काट देता
किया है, सहजीवन
लिए गहरी सम्पृक्ति
एक ऐसा पुल है जं
पाटने में समर्थ है।
विलक्षण दार्शनिक चिं
से आपूरित यह कृति
को दृष्टि

अनदेखे पुल

“....आपके साथ
करके क्या आप
है? मस्तिष्क का
कि जो आपके स
लेकर आप दुखी
हर क्रिया की ए
कोई लाख उसके
पर वह छूत की
इसमें लाभ-हानि
है।...

लेखक ने दाम्पत्य
और विडंबनाओं
समग्रता से रेखांकित
समझ के प्रभाव में
छाई को भी उस
अंकित किया है
समर्पण और सवा
किस प्रकार काट
किया है, सहजीव
लिए गहरी सम्पृक्ति
एक ऐसा पुल है
गटने में समर्थ है
वेलक्षण दार्शनिक
से आपूरित यह दृ
को दृष्टि संपन्नत



हर्षिता प्रकाशन

ई ११५, राम राम सिटी ११००५१

अनदेखे पुल

॥ सच्चा राममोहन राय पुस्तकालय प्रसिद्ध
कथकला के सौजन्य से प्राप्त ॥

से. रा. यात्री

“.....आपके साथ
करके क्या आप
हैं? मस्तिष्क का
कि जो आपके
लेकर आप दुखी
हर क्रिया की
कोई लाख उसके
पर वह छूत की
इसमें लाभ-हानि
है।...

लेखक ने दाम्पत्य
और विडंबनाओं
समग्रता से रेखांकित
समझ के प्रभाव में
खाई को भी उस
अंकित किया है
समर्पण और संव
किस प्रकार काट
किया है, सहजीव
लिए गहरी सम्पृक्ति
एक ऐसा पुल है
पाटने में समर्थ है
दिलक्षण दार्शनिक
से आपूरित यह
को दृष्टि संपन्नत

कृष्ण नगर, दिल्ली-110051
ई-11/5, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051

ISBN-81-88162-00-0

मूल्य : 250.00 रुपये

प्रथम संस्करण : 2003

प्रकाशक : हर्षिता प्रकाशन

ई-11/5, कृष्ण नगर, दिल्ली-110051

शब्द-संयोजक : दीप लेजर प्रिंटर्स, दिल्ली

मुद्रक : वी. के. ऑफसेट

दिल्ली-110032

अनदेखे पुल

“....आपके साथ जो
करके क्या आप व
हैं? मस्तिष्क का स
कि जो आपके साथ
लेकर आप दुखी य
हर क्रिया की एक
कोई लाख उसके प्र
पर वह छूत की त
इसमें लाभ-हानि क
है ।...

लेखक ने दाम्पत्य जे
और विडंबनाओं कं
समग्रता से रेखांकित रि
समझ के प्रभाव में ब
खाई को भी उसकी
अंकित किया है य
समर्पण और संवाद :
किस प्रकार काट देत
किया है, सहजीवन
लिए गहरी सम्पृक्ति
एक ऐसा पुल है जे
पाटने में समर्थ है ।
विलक्षण दार्शनिक किं
से आपूर्ति यह कृति
को दृष्टि संपन्नता ३



दूर-दराज के इलाकों में मेरा अक्सर आना-जाना बना रहना है। साहित्यिक समारोहों और गोष्ठियों में जानें से मैं इसलिए नहीं कतराता कि वहाँ कई बार कुछ ऐसे लोग भी मिल जाते हैं जिनसे परिचय हो जाने पर कभी-कभी लिखने के लिए बहुत कुछ मिल जाता है और मजे की बात यह है कि इसके लिए मुझे अपनी ओर से कोई विशेष प्रयास भी नहीं करना पड़ता। कितने ही जन इतने भरे हुए होते हैं कि अपनी समूची जीवनगाथा ही अनायास सुना देने हैं। यह भी अजब नहीं है कि आपको ऐसे पात्र भी मिल जाएं जो आग्रह पूर्वक अपने बारे में लिखने को उत्साहित करें।

हालांकि सच्ची घटनाओं को लिखने में एक बड़ा जोखिम भी रहता है। कोई लेखक कभी और बताई हुई स्थितियों को जस का तस तो लिखता नहीं है। अपनी ओर से उसे बहुत कुछ कहना और जोड़ना भी पड़ता है और यही सब जब लिखित रूप में सामने आ जाता है तो कुछ लोग लेखक द्वारा अंकित स्वरूप से बुरी तरह भड़क उठते हैं।

मैं इस भूमिका को और अधिक नहीं बढ़ाना चाहता। बस एक बार की बात बतलाना काफी समझता हूँ कि कई वर्ष पहले मध्य प्रदेश के एक पिछड़े इलाके में एक साहित्यिक समारोह में गया था। साहित्यिक हलचल तो दो ही दिन में खत्म हो गई पर जिस मित्र ने मुझे वहाँ बुलाया था वह वहाँ के मुख्यालय में डी.सी. तैनात था। कहना न होगा, बड़ा अफसर होने की वजह से उसके रोब और उसे मिली हुई सुविधाओं का कोई अंत नहीं था। उसने आग्रह किया कि वह मुझे अक्लमाड घुमाना चाहता है। मैं कुछ दिन और ठहर जाऊँ तो लिखने के लिए भी बहुत कुछ मिल सकता है।

अब आप जानिए कि लेखक को इस तरह का कोई प्रलोभन दे दिया जाए तो वह उसे शायद ही दरगुजर कर पाएगा। प्रकट में तो मैंने कोई आग्रह नहीं दिखाया पर पुख्ता इनकार भी नहीं किया। मेरा वह अफसर मित्र यह भी जानता था कि मैं परिवारविहीन अकेला आदमी हूँ। कहीं भी कितने भी समय के लिए रह जाऊँ, क्या अंतर पड़ता है।

ग्रामीण अचल के एक गेस्ट हाउस में उसने मेरे रहने का प्रबंध करा दिया और मैंने महीने बीस दिन वहाँ रहकर लिखने-पढ़ने का मन बना लिया।

मेरा मित्र सारे दिन अपने दफ्तर के कामों और सरकारी दौरों में रहता था लेकिन शाम को देर-सबेर अपनी जीप लेकर आ जाता था। वह देर गए रात तक मेरे साथ रुका रहता था और बाद में लौट जाया करता था।

कभी-कभी छुट्टी के दिनों में मुझे साथ लेकर वह घने जंगलों में घुमा लाता था या किसी आदिवासी गाँव में ठहरने का प्रबंध हो जाता था तो वहाँ लोक संगीत-लोक नृत्य का आयोजन भी हो जाता था।

एक रविवार को मेरा मित्र एक दंपती को अपने साथ लेकर आया और बोला—“देखो रविकांत, आज मैं तुम्हारी एक धनधोर पाठिका और प्रशंसिका को साथ लाया हूँ।”

मैंने देखा मझोले कद की अट्ठाईस-तीस की आयु की एक गेहुँए रंग की स्वस्थ सुंदर युवती और गठीली देह के चालीस की वय को छूते एक सज्जन मेरे सामने खड़े थे। युवती खादी सिल्क की गहरे नीले रंग की साड़ी पहने हुए थी जो उसके रंग रूप को सहज आकर्षण प्रदान कर रही थी। उसकी आँखों में काजल की हल्की रेखा और माथे पर कुमकुम वर्णी बिंदी चमक रही थी। देह न दुर्बल थी न अधिक मांसल। मगर उसके साथ आए सज्जन न केवल आयु में उससे काफी बड़े लगते थे बल्कि अपने धोती-कुर्ते के लिबास में कोरे पड़िताऊ किस्म के एक पुराणपंथी नजर आते थे। उनके सिर पर सख्त बाल थे जो इतने छोटे थे कि उन्हें कभी से संवारने का भी सवाल नहीं उठता था। देह की तरह ही उनका चेहरा भी खूब चकला चौड़ा था और होठों को घनी मूछों ने पूरी तरह ढक रखा था।

मेरे मित्र ने उन दोनों से मेरा परिचय कराया—“ये उर्मिला जी हैं—राजकीय कन्याशाला में शिक्षिका हैं और पंडित मुकुंद माधव राजकीय महाविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर तथा ज्योतिष के प्रकांड विद्वान् हैं।”

उन दोनों ने हाथ जोड़कर नमस्कार की तो मेरे हाथ भी स्वतः जुड़ गए और मैंने प्रसन्नता व्यक्त की—“आप गुरुजनों को मेरे प्रणाम। मुझे आप दोनों को देखकर

हार्दिक प्रसन्नता हुई।

मुस्कराते हुए उर्मिला जी बोली—“आप तो एकदम उल्टी बात कह रहे हैं। गुरुजन तो आप हैं। आपके सामने तो हम गिरिजन हैं।”

मैं बोला—“यदि आप गिरिजन हैं तब भी मेरे लिए प्रणम्य है क्योंकि इतने सुंदर सुरम्य गिरि शिखरों तथा उपत्यकाओं से घिरे अचल में रहने का सौभाग्य किसी अर्जित पुण्य प्रभाव से ही संभव है।”

इस पर उर्मिला मुंह बिचकाकर बोली—“ऐसा तो यहां कुछ नहीं है जिस पर बड़ा भारी गर्व किया जा सके। पूरा इलाका एकदम पिछड़ा हुआ ठेठ है। भले ही हम लोग मुख्यालय में रहते हैं पर वहां भी क्या है—लाल धूल और ऊंधती हुई जिदगी। रात को कभी उधर आएंगे तो ढिबरी कां धुआं देती भुतही रात से डर जाएंगे। भला यहां भी कोई रह सकता है?”

इस पर मैं कुछ कहता इससे पहले ही उर्मिला के पति पंडित मुकुंद माधव की घोर गंभीर वाणी सुनाई पड़ी—“भीतर के उल्लास से ही सब कही रहा जा सकता है। जिनके भीतर असतोष के अतिरिक्त कुछ बाकी ही नहीं बचता वही कुंठित रहते हैं। स्थान में क्या रखा है। उसे हम अपनी प्रज्ञा से रजित करते हैं।”

पंडित मुकुंद माधव ने सारगर्भित वाक्य बोलकर मेरी ओर इस दृष्टि से देखा जैसे वह अपने कथन पर मेरी सहमति चाहते हैं।

मैंने देखा कि उर्मिला का चेहरा अपने पति की बात सुनकर आवेश से लाल हो उठा। मेरा मित्र इस बीच उठकर अपने ड्राइवर से कुछ कहने चला गया था।

उन पति-पत्नी को एक-दूसरे से भिन्न मत रखने के कारण मैं क्या समझाता? मैंने उनका ध्यान हटाने की गरज से पूछा—“आप लोग तो इस अचल के निवासी नहीं लगते। आप लोगो की शिक्षा-दीक्षा कहा-कहां हुई है?”

इस पर उर्मिला ने तुरंत कहा—“मैं तो भोपाल की रहने वाली हू। वहीं से हिंदी में एम ए.बी.एड किया है। तकदीर देखिए, कहां आकर रहना पड़ा रहा है। लगता है जैसे देश निकाला दे दिया गया हो।”

मैंने उर्मिला की कटूक्ति का कोई उत्तर न देकर पंडित मुकुंद माधव से पूछा—“और पंडित जी आपने कहां रहकर अध्ययन किया है?”

“मैं तो बांदा का निवासी हूं। हमारा मिसिर खानदान चौदह पुस्तों से ज्योतिष शास्त्र के लिए प्रसिद्ध है। मैंने वाराणसेय काशी विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है। वही से विशिष्टद्वैत में डाक्टरेट की पदवी प्राप्त की है।”

“अरे आप तो बड़े विश्रुत परिवार से संबंध रखते हैं।” मैंने उन्हें सतुष्ट करने

“....आपके साथ
करके क्या आ
हैं? मस्तिष्क व
कि जो आपके
लेकर आप दुख
हर क्रिया की
कोई लाख उसमें
पर वह छूत क
इसमें लाभ-हानि
है।...

क उद्देश्य से कहा।

इसके बाद हम लोगों की बातें चल निकली और उर्मिला मेरे उपन्यासों के पात्रों की बातें करने लगी। मुझे लगा कि पंडित मुकुंद माधव का साहित्य के प्रति वैसा कोई उत्कट लगाव नहीं था। वह बीच-बीच में किसी सूत्र का हवाला देकर मीमांसा करने लगते थे।

मैंने देखा कि उन दोनों की एक-दूसरे के प्रति छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति ही अधिक थी। पारस्परिक सहजता और सहिष्णुता की भावना का तो मानों पूर्ण रूप से लोप ही हो चुका था।

मित्र लौट आया तो बैरा चाय और नाश्ता ले आया पर मुकुंद माधव ने न चाय पी और न कुछ खाया। संभवतः वह घर से बाहर बाजार का कुछ खाते ही नहीं थे। मेरे आग्रह पर उन्होंने कहा—“मैं दो समय के भोजन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाता-पीता।” जरा रुककर उन्होंने यह भी कह दिया—“यह चाय पान आदि का रोग मैंने नहीं पाल रखा है।”

जब वह जाने लगे तो उर्मिला ने साग्रह कहा—“कस्बा यहाँ से दस-बारह मील ही तो दूर है—किसी दिन आप हमारा आतिथ्य अवश्य ग्रहण कीजिए।”

पंडित मुकुंद माधव ने भी अपने सिर की लबी चोटी को थपथपाकर कहा—“हां। जाने से पहले कभी एक बार अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करें।” उनके यहाँ जाने का मैंने वादा कर दिया।

मेरे मित्र के साथ जब वह दोनों चले गए तो मैं देर तक उन दोनों के विषय में ही सोचता रहा। यह एक विचित्र विडंबना ही कही जाएगी कि दो विपरीत स्वभाव के लोग निरंतर एक दूसरे के साथ रहे और आपस में कभी किसी भी विषय पर एकमत न हो सकें।

लेखक ने दाम्पत्य
और विडंबनाओं
समग्रता से रेखांकित
समझ के प्रभाव
खाई को भी उ
अंकित किया।
समर्पण और सं
किस प्रकार काट
किया है, सहजी
लिए गहरी सम्पूर्ण
एक ऐसा पुल है
पाटने में समर्थ।
विलक्षण दार्शनिक
से आपूरित यह
को दृष्टि संपन्न

मध्य प्रदेश के उस अस्थायी प्रवास में फिर उर्मिला और उनके पति मुकुट माधव से मेरी भेट नहीं हो सकी। एक-दो बार मेरे मित्र हीरेद्र वर्मा ने कहा भी कि उर्मिला जी मुझसे मिलने को बहुत उत्सुक है पर मैं मिलने की बात टाल गया क्योंकि मुझे यही लगा कि मैं उनके घर जाऊंगा तो किसी मामूली-सी बात को लेकर उनमें फिर से खींच-तान शुरू हो जाएगी और मिलने का कोई औचित्य नहीं होगा।

मैं दिल्ली से थोड़ा हटकर एक ऐसे स्थान पर रहता हूँ जहाँ दिल्ली की गहमा-गहमी का कोई प्रभाव अभी तक नहीं आ पाया है और मेरा लिखना-पढ़ना मजे में चलता रहता है।

मैं घर-परिवार वाला प्राणी नहीं हूँ। मेरे पास जोखन नाम का एक आदमी है, जो घर में बना रहता है। कितने ही बरसों से जोखन मेरे पास है। मेरी अनुपस्थिति में वह भी अपने गांव चला जाता है। जहाँ उसके भाई और बेटे खेतीबाड़ी का काम करते हैं। मैंने कितनी ही बार उससे कहा है कि वह अपनी पत्नी को साथ ले आए मगर उसे मेरे पास अकेले बने रहने में ही सुविधा रहती है। वह मेरे स्वभाव से परिचित है और मुझे उसके साथ रहने से तनहाई का अहसास भी नहीं होता। यदि मैं कभी घर में न रहूँ और मेरा कोई मित्र घर में रहना चाहे तो वह उसकी सेवा शुश्रूषा भी बड़े सहज भाव से करता रहता है। सच पूछिए तो इतने वर्षों में मालिक और नौकर का रिश्ता भी हम दोनों के बीच से खत्म हो चुका है। कई बार मैं किसी साहित्यिक समागोह से रात गए देर से लौटता हूँ तो जोखन मुझे प्रतीक्षा करते हुए मिलता है।

एक रात मैं ऐसी ही किसी साहित्यिक गोष्ठी से रात को बहुत देर से लौटा

तो मैंने देखा कि मर कमरे आर सहन की वक्तिया जल रही है और किसी के बोलन की आवाज भी आ रही है।

मैं घर में न रहूँ तो मेरे दोस्त इतनी रात गए तक कभी मेरे इंतजार में बैठकर मेरी प्रतीक्षा नहीं करते। हा, दूर दराज के कोई सबधी दिल्ली किसी काम से आते हैं तो मुझसे मिलने की नीयत से चले आते हैं। दरअसल कभी-कभी यह भी होता है कि कोई रिश्ते-नाते का आदमी दिल्ली अपने काम से आता है और उसे कहीं रात बिताने की जरूरत पड़ जाती है तो वह होटल, अथवा लाज का खर्चा बचाने के उद्देश्य से मेरे यहाँ चला आता है। मेरे घर में उसी तरह की सब सुविधाएँ उसे मिल जाती हैं जो किसी परिवार में जाकर ही मिल सकती हैं।

मैं अपने घर के दरवाजे पर ठहरकर भीतर से आने वाली आवाजों की कुछ देर तक आहट लेता रहा—और यह जानने की कोशिश करता रहा कि मेरे इंतजार में कौन इतनी देर तक जाग सकता है। अक्सर तो यही होता है कि मेरी अनुपस्थिति में आने वाले को जोखन समय से खाना खिलाकर अतिथि कक्ष में सोने के लिए भेज देता है और स्वयं बाहर के कमरे में जागता रहता है।

अंततः मैंने किवाड़ों पर दस्तक दी। आधे मिनट से भी कम समय में दरवाजा आधा खुल गया और कोई बाहर झाँका।

मुझे सामने देखकर एक साथ पूरा दरवाजा खोलते हुए एक रमणी ने हाथ जोड़कर नमस्कार की और चहकते हुए स्वर में कहा—“तो जनाव इतनी रात को घर वापस लौटते हैं।”

मैंने ध्यान से उसे देखा तो मैं पहचान गया, वह मध्य प्रदेश की उर्मिला ही थी।

मैंने हसते हुए कहा—“क्या करें, कोई रोकने-टोकने वाला जो नहीं है।”

वह दहलीज के उस ओर खड़े खड़े ही हंसते हुए बोली—“तुलसी दास ने तो नारी के स्वतंत्र होने पर ही बिगड़ जाने की बात कही है मगर मैं यहाँ देख रही हूँ कि पुरुष भी स्वतंत्र रहने पर....।”

उर्मिला ने अपनी बात पूरी नहीं की तो मैं बोला—“यहाँ आकर आपने देखा कि पुरुष भी बिगड़ रहा है।”

उर्मिला ने प्रगल्भता से कहा—“वही सब तो मैं देखने आई हूँ कि आप पुरुष लोग अकेले बिना परिवार के कैसे रहते हैं। इस बार..”

उर्मिला ने मेरी ओर अजीब सी शोखी से देखा और हस पड़ी।

‘उसने इस बार’ के बाद वाक्य पूरा नहीं किया था। उसकी पूर्ति ‘मैं कुछ करके ही जाऊंगी।’ अथवा ‘इस बार मैं यह देखने आई हूँ कि आप अकेले किस प्रकार रहते हैं’ कितने ही वाक्यों और अर्थों में हो सकती थी।

मैंने कहा—‘मैं न यहाँ अकेला रहता हूँ न परिवार विहीन हूँ।’

‘‘आय! ऐसा? लेकिन आपके मित्र ने तो हमें यही बतलाया था कि आपने अभी तक परिवार बनाया ही नहीं है। कुछेक क्षण ठहरकर उसने संज्ञात्मक लहजे से पूछा—‘‘वह कहाँ गई है आपकी...?’’

मैं ठठाकर हस पड़ा और बोला—‘‘क्या आप मुझे अंदर आने की इजाजत देंगी? मैं आपको आराम से सब कुछ बतला दूंगा।’’

उसने जीभ काटते हुए कहा—‘‘अरे यह तो मुझसे घोर अनर्थ हो गया। घर का स्वामी दहलीज के बाहर खड़ा सूख रहा है और मैं मजे में गप्पे मारते हुए उसे अटकाए हुए हूँ।’’ और यह कहकर वह दरवाजे से एक ओर हटकर खड़ी हो गई।

मैं दरवाजा पार करके सहन में आया तो मैंने जोखन को रसोई से बाहर निकलते हुए देखा। उसके कंधे पर जो लाल रंग का अगौछा पड़ा था उससे वह हाथ पोछते हुए सहन के उधर खड़ा रहा।

गमछे से हाथ पोछते हुए जोखन जिस तरह रसोई से बाहर निकला था उससे यह स्पष्ट हो गया कि वह इस समय रात के खाने के सरजाम में लगा हुआ था।

मैं आगे बढ़कर कमरे के द्वार पर पहुँचा तो सब्जियों के छौंक की मसालों की गंध मेरे नथुनों में आने लगी। इससे मुझे आभास हुआ कि उर्मिला को आए हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था।

मैंने अपने कमरे में घुसते हुए उर्मिला से पूछा—‘‘क्या आप अकेली ही आई है?’’

लेकिन भीतर कमरे का दृश्य देखकर यह बात साफ हो गई कि उर्मिला अकेली नहीं आई थी। एक हालडाल, अटैची और लोहा का बक्सा कोने की अलमारी के पास रखा था और प्लास्टिक की टोकरी मेरी मेज पर रखी थी। जिसमें बेतरतीब ढंग से बहुत सा सामान ठुंसा पड़ा था।

मैंने पूछा—‘‘क्या आपकी गाड़ी यहाँ काफी विलंब से पहुँची?’’

वह सफाई-सी देते हुए बोली—‘‘दरअसल आपसे मिलने की बात तो सोचकर चली थी मगर आज नहीं कभी बाद में मिलती। वह तो गाड़ी इतनी लेट हो गई

कि हमें लगा कि पता नहीं दिल्ली में रात को कितना भटकना पड़ सकता है। आपका स्टेशन नजर में आया तो हम लोग यही उतर पड़े। चलते समय हीरेद्र जी से आपका पता ले लिया था तो उस आँके वक्त पर काम आ गया और हम लोग मजे में यहाँ आ धमके।”

मैंने विनम्रता दिखाते हुए कहा—“अरे-अरे यह कैसी बात कही आपने। आप लोग यहाँ आ गए, यह तो आपकी जबरदस्त अनुकंपा है एक तरह से।”

अब तक उर्मिला बराबर ‘हम लोग’ कहकर अपनी बात-चीत कर रही थी मगर वह मुझे घर भर में अकेली ही दिखाई पड़ रही थी। मैंने उससे कहा—“लेकिन आपके मिसिर जी तो कही नजर नहीं आ रहे हैं। क्या आपने उनको कहीं बहुत ही छिपाकर रखा है बंगाली स्त्रियों की तरह।”

उर्मिला हंसकर बोली—“बंगाल का जादू हमें कहीं सिद्ध है लेखक जी। सुना है वहाँ तो वह मेढ़ा-बकरा-मक्खी आदि बनाकर रखती है पुरुषों को।”

“वहीं क्या यहाँ भी तो पुरुष की कोई दूसरी नियति नहीं है। भले ही वह बाहर से आदमी लगे मगर हो तो वह भी जाता है मक्खी-मेढ़ा-बकरा वगैरह। पुरुष से ज्यादा निरीह प्राणी और कहा मिलेगा इस संसार में?”

वह मुँह चिढ़ाते हुए बोली—“अरे वाह रे सबसे निरीह प्राणी। आपका क्या कहना।”

मैंने हसते हुए पूछा—“श्री भुकुद माधव पंडित कहा हैं? कही भी तो दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।”

उर्मिला बोली—“वह रात को दस बजे के बाद तो किसी भी हालत में जागते नहीं रह सकते। ट्रेन में ही झपकिया लेने लगे थे। ऊँघते-ऊँघते ही आपके घर में घुसे और सोफे पर बैठते ही खराटें भरने लगे। तब जोखन ने उन्हें अतिथि कक्ष में ले जाकर सुला दिया।

उर्मिला ने जोखन का कुछ इस अंदाज पर नाम लिया जैसे वह बरसों से उसे जानती हो।

मैंने कहा—“तो क्या अब रातभर भूखे ही सोते रहेंगे?”

“नहीं नहीं, भूखे क्यों सोएंगे उन्होंने साथ लाया हुआ भोजन ट्रेन में ही खा पो लिया था। फिर कुछ पल ठहरकर बोली—“इस समय खाने का बखेडा खड़ा करने का सवाल ही क्या उठता था अगर आप घर में होते और भोजन कर चुके होते।”

मैं तो बाहर ही खाना खा चुका था और जोखन यह बात जानता भी था

कि अगर म रात को आठ-नौ बज तक नहा लाटता ता फिर रात्रि भाजन करक ही वापस आता हूं। मगर मैने उर्मिला से यह बात नहीं कही। इस बात को जानकर उसका खाना बनवाने-खाने का उत्साह ही वुझ जाता। मै बोला—“चलिए यह ठीक हुआ कि आप लोग हमारे शहर के स्टेशन पर ही उतर पड़े। अब जब तक भी चाहें इधर ही रहें। जोखन और मै दोनों ही आप लोगो के संसर्ग से लाभान्वित होंगे।”

“यह तो आप एकदम विपरीत बात कह रहे हैं। हम आपको क्या आराम देगे—उल्टा आपकी एकांत शांत जिंदगी मे विघ्न खड़े कर देंगे। जोखन का काम अलग से बढ़ जाएगा।”

“अरे जी वह कुछ नहीं।” कहकर मैं दूसरे कमरे में कपड़े बदलने चला गया।

“....आपके रु
करके क्या र
हैं? मस्तिष्क
कि जो आप
लेकर आप रु
हर क्रिया र्क
कोई लाख उर
पर वह छूत
इसमें लाभ-ह
है।...

3

जोखन ने डाइनिंग टेबिल पर खाना लाकर रख दिया तो मैं और उर्मिला खाने के लिए बैठ गए।

खाना शुरू करने से पहले मैंने कहा—“आप पंडित जी को भी बुला लेती तो अच्छा होता। कहीं वह भूखे ही न सो गए हों।”

उर्मिला बोली—“वह भूखे सोने वाले नहीं हैं। भूख और नींद—इनको लेकर वह किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकते।”

मैं बोला—“इससे तो कोई अच्छी बात हो ही नहीं सकती।”

तभी मुझे याद आया कि पंडित मुकुंद माधव ने पहली मुलाकात में ही बतला दिया था कि वह न चाय पीते हैं न नाश्ता करते हैं—बस दोनो वक्त भोजन ही करते हैं। मैं बोला—“वास्तव में पंडितजी अपने नियम के बड़े पावद हैं। जब वह भोजन के अतिरिक्त कुछ और लेते ही नहीं हैं तो फिर नींद और भूख की हानि क्यों सहें?”

“आप ठीक कहते हैं, वह हानि सहने वाले नहीं हैं। अपने लिए जीने वाले सभी प्राणियों का यही हाल है।”

मैंने अपने प्लेट में थोड़ी सी सब्जी ले ली। यद्यपि मैं खाना खाकर आया था पर मैं उर्मिला का साथ देने की गरज से खाने के लिए बैठ गया था और खाने में उसका साथ देना चाहता था।

मैंने एक चपाती अपनी प्लेट में रखते हुए पूछा—“आपको मकान मिलने में तो कोई कठिनाई नहीं हुई?”

उर्मिला ने अपनी प्लेट में सब्जी रोटी रखते हुए कहा—“रिक्शा चालक आपको जानता था। लगता है यहाँ के सभी लोग आपके नाम और काम से खूब परिचित हैं।”

लेखक ने दाम
और विडंबना
समग्रता से रेखा
समझ के प्रभा
खाई को भी
अंकित किया
समर्पण और :
किस प्रकार क
किया है, सह
लिए गहरी सम
एक ऐसा पुल
पाटने में समझ
विलक्षण दार्शन
से आपूर्ति या
को दृष्टि संपन्न

मैं बोला—“नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है—बस एकाध रिक्शे वाला मुझे जानता है। संयोग से शायद वही आपसे टकरा गया है। रही काम की बात उसे तो शायद ही कोई समझता वूझता हो।” कुछ क्षण ठहरकर मैंने हंसते हुए कहा—“भला मैं भी कोई ऐसा काम करता हूँ जिसे कोई जाने या जिसका कोई महत्त्व हो।”

उर्मिला ने खाते हुए हाथ रोक लिया और मेरी ओर विस्मय के भाव से देखते हुए बोली—“ये आप क्या कह रहे हैं? आपका काम क्या ऐसा मामूली है जिसे नजरदाज किया जा सके!”

“काम? यह भी कोई काम है भला। बैठे ठाले की खामखयाली है। यह तो लोगों की कृपा है कि हमें भी किसी गिनती में गिन लेते हैं।”

उर्मिला अपने मुँह में जो निवाला डालने जा रही थी वह उसके हाथ में ही थमा रह गया। वह आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोली—“यह आप क्या कह रहे हैं? आप इस देश के इतने बड़े लेखक हैं कि आपको हर कहीं से सम्मान मिलता है, फिर भला यह नगर आपको कैसे उपेक्षित कर सकता है!”

मैं हसकर बोला—“उर्मिला जी आप खाना खाइए। इस देश में हिंदी के लेखक को कौन जानता है और कौन उसको जानना चाहता है? यह एक तरह से उत्सवधर्मी भाषा है जिसका उत्सव की समाप्ति के बाद किसी भी तरह का महत्त्व शेष नहीं रह जाता है। आपने देखा होगा कि जब समारोह समाप्त हो जाता है तो हमारे उत्सव के मुख्य अतिथि का भी कोई नहीं पूछता। उसके हाथ में जो प्लेट होती है उसे लिये वह एक कोने में उपेक्षित खड़ा रहता है। कोई भी आगे बढ़कर उसमें खाद्य-सामग्री परोसने की चिंता नहीं करता। यह अलग बात है कि माँ सरस्वती के सामने दीप प्रज्वलित करते समय उसके भव्य चित्र प्रकाशित होते हैं। उस समय उसकी बगल में खड़े लोग अपने घर-परिवार के साथ-साथ दुनिया जहान के लोगों को यह दिखलाना बतलाना नहीं भूलते कि अमुक जी की बगल में खड़ा हुआ मैं हूँ।”

खाना खत्म करने के बाद मैं और उर्मिला बरांडे में पड़े मोटो पर बैठकर बातें करने लगे। उर्मिला बोली—“बहुत बार सोचा कि कभी दिल्ली देखी जाए मगर कभी भी ऐसा कोई अवसर हाथ नहीं लगा कि दो-चार दिन दिल्ली में कहीं टिककर सारे दर्शनीय स्थल देख लिए जाएं। पिछली बार जब आप उधर आए थे तो मेरे मन में यह बात आई थी कि आप से प्रार्थना करूँ कि आपके लिए संभव हो तो इस दिशा में थोड़ा कष्ट करके अपना समय देने की कृपा करेंगे।”

मैं बोला—“इसमें कौन-सी बड़ी भारी परेशानी है। अरे मैं तो रहता ही ऐसे स्थान पर हूँ जिसे केंद्र बनाकर कई लोग दूर दराज से आते हैं और मजे से घूम

“...आपके
करके क्या
है? मस्तिष्क
कि जो आप
लेकर आप
हर क्रिया व
कोई लाख उ
पर वह छूत
इसमें लाभ-ह
है।...

लेखक ने दा
और विडंबन
समग्रता से रेह
समझ के प्रथ
खाई को भी
अंकित किय
समर्पण और
कित प्रकार व
किया है, सह
लिए गहरी स
एक ऐसा पु
पाटने में समा
विलक्षण दार्ष्टी
से आपूर्ति य
को दृष्टि संप

फिरकर लौट जाते हैं। आपका जब तक मन हो ठहरिए। यहाँ न मुझे कोई कठिनाई
होगी न परेशानी।”

उर्मिला सकुचाते हुए बोली—“नही-नही, ज्यादा देर तक तो रुकना संभव नहीं
है—पर तीन-चार रोज का समय तो है। इन्हें दिल्ली में एक-दो स्थानों में शोध संबंधी
सामग्री भी लेनी है और दिल्ली विश्वविद्यालय के एक-दो विद्वानों से भी मिलना है।”

“ठीक है तो आप लोगों का जो भी कार्यक्रम बनेगा मैं उसी के अनुरूप
उपलब्ध रहूँगा।” कहकर मैंने उससे सोने के लिए पूछा।

उर्मिला मोठे से उठते हुए बोली—“हां अब तो सोना ही चाहिए—“आप भी
थकें होंगे।”

“मेरे थकने का तो कोई सवाल ही नहीं है। सारे दिन घर में रहता हूँ और
दोपहर के भोजन के बाद तो दो-तीन घंटे सोता ही रहता हूँ पर आप लोग काफी
लंबी यात्रा करके आए हैं इसलिए आपका विश्राम करना जरूरी है।”

उर्मिला उठकर अतिथि कक्ष की ओर चली गई तो मैंने जोखन से कहा कि
वह उन लोगों के कमरे में सुराही और गिलास रख दे।

रात बहुत बीत चुकी थी—मैं भी अपने कमरे में सोने चला गया।

अगली सुबह मेरी आखें कुछ देर से खुली। मैं अपने कमरे से बाहर आया तो मैंने देखा पंडित मुकुद माधव बरांडे में कुर्सी पर बैठे अखबार पढ़ रहे थे। उन्हें देखकर मुझे लगा कि वह नहा-धोकर तरोताजा हुए बैठे हैं।

मैंने नमस्कार की तो वह कुर्सी से खड़े होते हुए बोले—“श्रीमान् को मेरे शत-शत प्रणाम।” उनकी नमन शैली पर मैं हस पड़ा और हाथ जोड़कर बोला—“एक दो प्रणाम ही काफी हैं आपने तो सैकड़ों ही एक साथ कर डाले।”

“आप जैसी यशस्वी विभूति के लिए तो इतने भी अपर्याप्त हैं।”

मुझे लगा मिसिर जी लक्षण-व्यंजना की ऊंचाई से अपनी बात कह रहे हैं। जाहिर है उनके लिए कविता उपन्यास लिखने वाला व्यक्ति लगभग निरर्थक ही था।

इसी समय उर्मिला बरांडे की ओर आती दीख पड़ी। वह भी नहा-धो चुकी थी और पिंक बार्डर की एक रेशमी साड़ी पहने हुए थी। घने काले बाल उसकी पीठ पर छितरा रहे थे। पंडित मुकुद माधव ने अपनी पत्नी पर एक उड़ती-सी निगाह डालकर कहा—“इन्हे आपके दर्शनो की बहुत उत्कंठा थी।”

उर्मिला ने उनके चेहरे पर एक कड़ी नजर डालते हुए कहा—“बस मुझे ही उत्कंठा थी? फिर आप यहां कैसे चले आए?”

मुझे लगा कि यह तो सुबह ही सुबह कलह प्रसंग शुरू होने जा रहा है। मैंने उसे नजरदाज करते हुए मिसिर जी से पूछा—“अरे छोड़िए उत्कंठा-उत्सुकता की बातें, आप यह बतलाइए कि रात नींद कैसी आई? आपको मच्छरों ने तो ज्यादा तंग नहीं किया?”

पंडित जी ने अपनी चोटी पर हथेली फिराते हुए लापरवाही से कहा—“अजी अब मच्छरों-खटमलों से क्या डरना। यह तो थोड़े बहुत सभी स्थानों पर होते हैं पर

मैं जब सो जाता हूँ तो मुझे फिर कोई भय बाधा आघात नहीं पहुँचाती। मैं निश्चिंत होकर सोता हूँ। मैं व्यर्थ के स्वप्न भी नहीं देखता। सोने के बाद प्रातः चार बजे ही स्वतः आँखें खुल जाती हैं।”

मुझे यह तो पता था ही कि वह चाय नहीं पीते थे—नाश्ता भी नहीं करते थे इसलिए जोखन को पुकारकर मैंने कहा—“देखो भई चटपट सब्जी तैयार करके पूरिया तल लो। पंडितजी ने रात भी खाना नहीं खाया था इसलिए जितनी जल्दी हो सके खाना तैयार हो जाना चाहिए।”

जोखन ने पूछा—“क्या चाय नाश्ता नहीं होगा आप लोगन का?”

“होगा भई होगा। मैं और उर्मिला जी चाय बिस्कुट टोस्ट या पूरी-परांठा कुछ भी ले लेंगे पर पंडित जी चाय नहीं पीते हैं—खाना ही खाएंगे सीधा।”

जोखन को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कोई ऐसा आदमी भी घर में मौजूद है जो चाय नहीं पीता, सुबह को नाश्ता नहीं करता मगर उनकी पत्नी चाय भी पीती है और बिस्कुट-टोस्ट वगैरह भी नाश्ते में लेती है। शायद वह उन दोनों की अद्भुत जोड़ी को देखकर चकित था।

मैंने पंडित मुकुंद माधव की ओर देखा। उनकी आँखों पर लगे चश्मे के कांच धूप पड़ने के कारण बहुत चमक रहे थे और आँखों का भाव पकड़ में नहीं आ रहा था।

जब जोखन चला गया तो मैं और उर्मिला भी मोढ़ों पर बैठ गए। पंडित जी उर्मिला की ओर उन्मुख होकर बोले—“मुझे भी इनसे मिलने की उत्सुकता थी पर वह तुम्हारी लालसा से भिन्न प्रकार की थी।”

मुझे उनकी बात सुनकर हैरत हुई। वह बात तो कब की खत्म हो चुकी थी। मैं उस प्रसंग को ही टाल चुका था मगर वह अब भी उसी को कसकर पकड़े बैठे थे।

उनकी बात से उर्मिला का चेहरा रोष से तमतमा उठा पर वह बोली कुछ नहीं—मोढ़े से उठी और रसोई की तरफ चली गई। पंडित मुकुंद माधव ने उर्मिला के चले जाने पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह अखबार में सिर गड़ाए बैठे रहे।

मैं सुबह उठते ही एक दो प्याले चाय पीता हूँ—यह बात जोखन जानता था। उसने मेरे हाथ में काच का गिलास थमाते हुए कहा—“मैंने चायदानी आपके कमरे की मेज पर रख दी है बाबू जी --

म चाय पीते हुए सोचता रहा कि इन दो विपरीत दिशाओं में जाने वाले पति-पत्नी का पारस्परिक टकराव कैसे रोका जाए।

मैंने चाय का गिलास खाली करके तिपाई पर रख दिया और उठते हुए बोला—“पंडित जी आप चाय तो नहीं लेते पर खाना बनने तक एक गिलास दूध ले लेने में क्या हर्ज है?”

“मैं रात को सोने से पहले एक गिलास दूध लेता हूँ।”

मैंने हसते हुए कहा—“अगर आप इस समय दूध ले लेंगे तब भी आपका रात का दूध सुरक्षित रहेगा—उसमें कोई कटौती नहीं की जाएगी।”

पंडित जी ने अखबार से सिर उठाते हुए कहा—“मगर सभी को अनावश्यक भोग से बचना चाहिए। जब एक गिलास दूध पर्याप्त हो तो दो गिलास का उपयोग क्यों किया जाना चाहिए। इस तरह क्या यह दूसरे के भाग पर डाका नहीं है।”

मैं व्यर्थ की बहस में नहीं पड़ना चाहता था क्योंकि इसका कहीं अंत तो था नहीं, इसलिए उठते हुए बोला—“नहीं मन है तो छोड़िए—मैं देखता हूँ कि खाना बनने में कितनी देर है।”

पंडित जी ने हवा में दाएँ हाथ का पंजा लहराया और बोले—“महाशय! खाने की कोई वैसी जल्दी नहीं है। मैं दस, ग्यारह के बाद ही भोजन करता हूँ। इतनी सुबह खाने का मुझे अभ्यास नहीं है। आप जिस तरह खाते पीते हैं। उसी नियम के अनुसार खानपान सुचारु रूप से चलाइए। मैं तो विद्यालय भी बिना कुछ खाए पीए ही जाता हूँ। कभी दोपहर बारह तो कभी एक दो-बजे तक वापस लौटता हूँ और तभी खाना खाता हूँ।”

मैंने सरसरी तौर पर कहा—“हां ऐसा ही होता है, आप जैसी भी आदत डाल लें।”

“दरअसल आदते भी बहुत देर से नहीं डाली जा सकतीं। छोटी उम्र में ही जो स्वभाव बन जाता है फिर जीवन पर्यंत वही स्थायी बनकर साथ-साथ चलता है।”

यह एक बहुत उबाऊ-बहस थी—मैं उसे वहीं छोड़कर चला गया।

पंडित जी के पास से उठकर मैं रसोई में पहुंचा तो मैंने देखा उर्मिला जोखन की सहायता कर रही थी। वह थाली हाथ में लेकर चावलों से कंकड़ बीन रही थी।

मैं बोला—“अरे आप किस झंझट में पड़ गईं! जोखन पर भरोसा कीजिए वह चावलों में एक भी कंकड़ छोड़ने वाला नहीं है। आप चलकर पंडित जी के पास बैठिए और उनसे कुछ बातचीत कीजिए।”

“मैं यहीं भली हूँ—आप विद्वानों से मैं क्या बात करूंगी। आप दोनों ही किसी ऊँचे विषय पर वाद-विवाद कीजिए। वह कुछ सार्थक भी होगा, हम औरतें तो वैसे ही बुद्धिहीन मानी जाती हैं।”

“औरतों को कौन बुद्धिहीन मान या कह सकता है। आज तो उनकी बुद्धि की हर कही धाक है।”

मैं कुछ रुककर बोला—“आज ही क्या उनकी कब धाक नहीं थी। गार्गी, गायत्री, मैत्रेयी, अरुन्धती, सावित्री, अनुसूया कोई एक नाम है। शिखरासीन देवियों का नाम गिनाते चलो तो कही गिनती ही खत्म होने में नहीं आती।”

वह उदासीनता से बोली—“ये सब कहने की बातें हैं। सच पूछिए तो स्त्रियों की प्रशंसा करके भी उनका शोषण ही होता चला आया है। गुप्त जी ने नारी का अबला जीवन बिल्कुल सही कहा है।”

“गुप्त जी ने जो भी कहा हो मगर इतिहास तो यह नहीं कहता। इतिहास, पुराण की तरह कल्पना भी नहीं है। वह समय की प्रासंगिकता, रेखांकित करता है और यथार्थ परक दस्तावेज होता है। हमारे भारत में ही नहीं, महान् नारियों की यूरोप में भी संख्या कम नहीं है। अन्याय और शोषण के विरुद्ध नारी एक जबरदस्त प्रतिरोधी शक्ति है।”

“रही होगी पर मैं नहीं मानती। मैं जो यथार्थ में देखती हूँ उसे कैसे नकार दूँ! यहाँ तो उसके साथ पशु से भी कही ज्यादा गर्हित व्यवहार किया जाता है फिर चाहे उसकी प्रशंसा में कितने भी ढोल पीटे जाएं।”

अब तक उर्मिला चावल साफ कर चुकी थी। उसने सीमेट की पटिया पर थाली रखकर जोखन से कहा—“भैया जी क्या सब्जी बनानी है। मुझे बताओ मैं काटे-छीले देती हूँ।”

जोखन उर्मिला के मुह से ‘भैया जी’ संबोधन सुनकर एक तरह से गद्गद हो उठा। वह बोला—“काय कू परेशान होय रई हो। जे सब काम आपकू शोभा ना देत है। मैं यहाँ काये लैया बैठो हूँ। मेहमानन की आव भगत तो मेरो धरम है। आप उत में चलके वइठो—मैं अबई छाल, दाल चावर सब्जी फुल्का सबई तयार करै देत हूँ।”

उर्मिला से मैंने भी, अनुरोध किया कि वह इस सब के लिए तंग न हो। चलकर बैठे—रेडियो सुने-या अखबार ही पढ़े।

“अखबार में पढ़ने को तो कुछ है नहीं। वही हत्या, वही बलात्कार, वही दहेज की कमी का रोना रोकर औरतों को जलाना या पखे से लटकाना। आज का अखबार

भी महीनो पुराना ही लगता है। अगर उस वर पर आज की डेट न हो तो वही सब पुराना घिसा-पिटा एक जैसा ही विवरण छपता रहता है।”

मैं हसकर बोला—“बात तो आपकी एकदम सही है मगर दिन तो अब भी निकलता है। सूरज उसी तरह चमकता है। मौसम पहले की तरह ही बदलते हैं। अनास्था और अविश्वास लेकर तो हम मनुष्य जी नहीं सकते। इस संसार में सब कुछ तो गहिँत और उतना बुरा नहीं है। आखिर जीने के लिए आपको कोई आधार तो स्वीकार करना ही होगा।”

“मनुष्य के पास सोच-विचार की शक्ति ही तो उसका सबसे बड़ा अभिप्राय है। जानवर दुःखम-सुखम किसी तरह जी तो लेते हैं। उन्हें लंबी आयु का अभिशाप भी तो नहीं मिला मगर हम मनुष्य-छीजते-बीतते चले जाते हैं और पिट-पिटकर भी पता नहीं किस झूठी उम्मीद को लेकर जीते चले जाते हैं।”

“आपने एकदम सही बात कही। उम्मीद ही ध्विर नवीन है। प्रतीक्षा हमेशा आगत के लिए ही हंती है। और उसे कोई भी नहीं जानता कि वह हमारे लिए क्या वरदान लेकर आ रही है।”

उर्मिला मेरे आशावाद पर एक विद्रूपमयी हंसी हसकर बोली—“कौन सा आगत? आगत भी तो उन्हीं के लिए होता है जो कहीं ठहर नहीं गए होते हैं। नदी ही तो कहीं पहुंच सकती है। तलैया और तालाबों की क्या गति है। वह तो एक जगह स्थिर हो जाते हैं और उसके ठहरे हुए जल में सिवाय सेवार और काई के क्या हो सकता है? इससे तो सड़ाध ही बढ़ती है।”

उर्मिला की इन बातों को सुनकर मुझे उसकी मनःस्थिति और गहरे अवसाद का आभास मिल गया। मैं उसके मन के कोलाहल को किस-प्रकार शांत कर सकता था। मैंने उसे सहज और उत्साही बनाए रखने के लिए कहा—“तुम्हारी इतनी छोटी उम्र के लिए ऐसे विचार बहुत घातक हैं। बड़ी आयु में पहुंचकर तो वाकई ऐसा अहसास होने लगता है कि अब कुछ नया और सार्थक शायद न हो पर जब हमारी देह में ऊर्जा का ज्वार हो मस्तिष्क में कल्पनाएँ और सपने हो तो सृजनशीलता को एक नई दिशा की तलाश होनी ही चाहिए।”

“जिनके पांवों में बेडियां पड़ी हों—सामाजिक बंधनों ने देह और मन को एक पथरीली काल कोठरियों में बंदी बनाकर रख दिया हो तब मन का पक्षी कहा ओर कितनी उड़ान भर सकता है?”

“मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि यह आपके साथ क्या और क्यों हो रहा है। आप अच्छी पढ़ी-लिखी मनस्वी युवती हैं। अभी आपकी जिम्मेदारियाँ भी उतनी नहीं

ह। नौकरा करती है--आपकी अपनी इयत्ता और स्वायत्तता है। फिर आप इतनी हताशा क्यों झेल रही है? हम जिन बंधनों को स्वीकार करते हैं यदि वह हमारे मनोनुकूल न रहें तो हम उन्हें क्यों नहीं तोड़ सकते?"

“क्या इन सामाजिक अभिशापों की जकड़वटियों को तोड़ डालना इतना आसान है?"

“निश्चय ही यह आसान नहीं है लेकिन क्या अपने हितों की रक्षा के लिए हम कठिन परिस्थितियों और समस्याओं से नहीं जूझना चाहिए।”

“लेकिन उसकी कोई दिशा और मार्ग तो दिखलाई पड़े।” उर्मिला ने मेरी बात पर सोचते हुए कहा। उसकी आंखों में एक जिज्ञासा उभरी और वह मेरी ओर देखने लगी।

“समस्याएं अपना मार्ग स्वयं अन्वेषित करती हैं। आज तो हम लोग बीसवीं शताब्दी के उस बिंदु पर खड़े हैं जहां व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी व्यक्ति को केंद्र में रखकर उसकी परिक्रमा कर रहा है और गृहित और गलत के विरोध में एक नहीं अनेक स्वर मुखरित हो उठते हैं। मैं यह दावा नहीं करता कि गलत और कुत्सित हमारे समाज में नहीं हैं पर साथ ही यह भी एक ठोस सच्चाई है कि गलत के प्रति विरोधी स्वरों का भी अकाल नहीं पड़ गया है। चीजों की पारदर्शिता की ओर लोगों की निगाहें जाती हैं और असत्य कहीं से भी आए उसके मिथ्यापन को हम उग्रता से रेखांकित करते हैं।”

“लेकिन स्त्रियों की स्थितियों में तो कोई उल्लेख्य परिवर्तन नहीं हुआ है। वह बेचारी तो आज भी मध्ययुगीन नारी की तरह बेबस प्रताडित और प्रवर्चिता है।”

मैं बोली—“ऐसा आप कैसे कह सकती हैं? आज तो सारे विश्व में कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रह गया है जिसमें स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान न हो। उनकी रचनात्मक भूमिका को लेकर खूब चर्चाएं भी होती हैं। उनकी यशस्विता को भी प्रचार माध्यमों द्वारा रेखांकित किया जाता है।”

उर्मिला ने अपना दायां हाथ उठाकर मेरे बोलने में विराम दे दिया। वह बोली—“आप जिन यशस्वी महिलाओं की बात कर रहे हैं उनके रहते हुए क्या इस देश में प्रतिवर्ष हजारों युवतियों को दहेज का दानव नहीं लीला जाता। अधिकांश लड़कियों की क्या प्रतिवर्ष भ्रूण हत्या नहीं होती? क्या विवाहिताओं की विवाह के दस-बीस दिन बीतते-बीतते हत्या नहीं कर दी जाती? क्या सद्यः विवाहिताओं के विधवा हो जाने पर उन्हें पति के साथ चिता पर नहीं चढ़ा दिया जाता। आपने राजस्थान की पढी-लिखी रूपकुवर का अंत नहीं देखा जाता।” उर्मिला बहुत गहरे

आवेश में बोलती चला जा रही था बोलते बोलते उसका चेहरा लाल हो गया और गले की नसें फूल उठीं।

मैंने जोखन को पुकारकर पानी लाने का कहा और उर्मिला को शांत करने के लिए बोला—“दरअसल जिस दुनिया में हम रहते हैं उसमें इतनी सारी मिश्रित प्रवृत्तियां एक साथ ही चलती रहती हैं कि वह कई बार एक-दूसरे के विरोध में जाती दीख पड़ती हैं पर साथ ही क्या यह भी सत्य नहीं है कि कोई भी युग रहा हो, सत्य को खोजने के मुमुक्षु और जिज्ञासु किसी भी बाधा विरोध या विसंगति के सामने नहीं झुके। आप जरा कल्पना करें, जिस मध्य काल में राजस्थान में रानिया-महारानिया असूर्यम्पड़िया होती थी उसी मध्यकाल में और राजस्थान के हृदय चित्तौड़ में विद्रोह का स्वर प्रखरतम स्तर तक बुलंद कर दिया था। क्या मीरा को कोई झुका सका? किसी प्रकार के समझौते पर राजी या विवश कर पाया? मीरा के पति की मृत्यु हुई तो क्या मीरा को कोई पति के शव के साथ चिता पर चढ़ाकर जला सका? दरअसल होता यह है कि हममें अपने अधिकार की सत्यता को विश्वसनीय बना सकने का कितना जोर है।”

“आप कुछ भी कहें-औरत निर्बल है और समाज उसे और भी निर्बल बनाकर देवी और पूज्या बनाने का निरंतर षड्यंत्र रचता रहा है।”

मैंने पूछा—“समाज से आपका क्या आशय है?”

“समाज माने आप पुरुष लोग। आप लोग ही हमारा कद छोटा करते चले जाने के दोषी हैं। आप लोगो ने हमें वीन-साई बना दिया है। हमारी जड़े गहरी न जाएं, इसी के प्रयास में आप लोग लगे रहते हैं।”

उसके इस आरोप पर मुझे हंसी आ गई तो उसके चेहरे पर और भी गहरी उत्तेजना के लक्षण दिखाई देने लगे।

जोखन पानी का गिलास ले आया और मेरे सकेत करने पर गिलास उर्मिला की ओर बढ़ाते हुए कहने लगा—“आप लोगन का खानो मैंने तयार कइओ है—जब मज्जी (मर्जी) होय खा लइयो।”

मैं बोला—“खाना अभी थोड़ा ठहरकर खा लेंगे। पहले तुम दो प्याले चाय बना लाओ।” तभी एकाएक मुझे पंडित मुकुंद माधव की याद आई कि वह उधर बरांडे में अकेले ही बैठे हैं। मैंने उर्मिला से पूछा—“क्या पंडितजी को भी इधर ही बुला लें? उधर वह अकेले बोर हो रहे होंगे।”

उर्मिला अनमनी होकर बोली—“आपकी मर्जी है—बुला लीजिए पर यह भी जान लीजिए कि वह कितनी भी देर अकेले बैठे रहें कभी बोर नहीं होते।”

मैं अविश्वास प्रकट करते हुए बोला—“ऐसा नहीं हो सकता—यह एक असंभव-सी बात है कि कोई आदमी कभी बोर ही न हो। जानवर तक भी बोर हो जाते हैं।”

उर्मिला ने कटाक्ष किया—“वह आपके जानवरों की श्रेणी में नहीं आते।”

इस पर मैं चुप्पी साध गया। यह तो मैं गहगई से महसूस कर ही चुका था कि उर्मिला और पंडित मुकुंद माधव की जोड़ी ‘भयों यह अनचाहत को सग’ को ही चरितार्थ करने वाली थी।

जोखन ट्रे में दो प्याले-चाय लेकर आ गया और दीवार के नजदीक पड़े स्टूल पर चाय की ट्रे टिका दी। स्टूल हम दोनों के सामने रखते हुए उसने पूछा—“कऊ जानो तो नाय है आप लोगन को?”

मैंने कहा—“हां भई खाना खाकर हम लोग दोपहर तक दिल्ली जाएंगे।”

जब जोखन चला गया तो मैं बोला—“अगर हम आज के बजाय कल दिल्ली चले तो कैसा रहे? आप लोग लंबा सफर करके आए हैं—एक दिन तो आपको आराम करना ही चाहिए।”

“मुझे तो दिल्ली में कोई काम ही नहीं है—जो भी मिलना जुलना या करना खरीदना है वह इन्हीं को है। मैं सोचती हूँ वह अपना एक दिन क्या व्यर्थ करे?”

मैंने उर्मिला के सामने प्रस्ताव रखा—“तो पंडित जी को खाना खिलाकर दिल्ली भेज दिया जाए और सैर-सपाटे घूमने फिरने का कोई और दिन रखा जाए?”

“यह बहुत अटपटा-सा नहीं लगेगा कि वह दिल्ली अकेले ही जाएं और मैं यहां बनी रहूँ?”

“औचित्य और अनौचित्य की इसमें कौन-सी बात है! अरे भाई पंडित जी तो यूनिवर्सिटी के लोगों से मिलेंगे, सभा सोसायटी में सम्मिलित होंगे और तुम वहां उनकी छाया बनकर साथ लगी रहोगी। हां तुम भी कहीं सक्रिय भागीदारी कर सको तो उनके साथ तुम्हें जरूर जाना चाहिए।”

मेरे प्रस्ताव को सुनकर उर्मिला चुप होकर कुछ सोचने लगी। मैंने उससे कहा—“अरे भई चाय ठंडी मत करो। आपका जाना या यहा रहना कोई बहुत सिर खपाने वाला मुद्दा नहीं है। जाने का मन हो तो साथ चली जाना।”

“नहो-नही, वो बात नहीं है। मैं सोच रही थी कि यहां मेरी वजह से आपका बंधन हो जाएगा।”

“मेरा क्या बंधन हो जाएगा—तुम क्या मेरे सिर पर रहोगी!”

उर्मिला उन्मुक्त भाव से हंस पड़ी—“मैं न सही कोई तो आकर आपके सिर

पर रहेगा हा

मैंने भी हसकर कहा—“मैं ऐसे सिर को काटकर फेंक दूंगा जिस पर कोई रहने की सोचे।”

“कोई काटकर नहीं फेंकता। सब कहने की बातें हैं।”

“तब तो ठीक है, फिर मैं क्या कर सकता हूँ? जिसे सिर पर ही रहना होगा वह वहाँ रहेगी ही।”

“आप बड़े समझौतावादी हैं।”

“समझौता नहीं, शायद समन्वयवादी।”

उर्मिला चाय खत्म कर चुकी थी। प्याला स्टूल पर रखते हुए बोली—“आप लेखको का यही तो है कि आपके पास शब्दों के इतने सारे विकल्प मौजूद रहते हैं कि उन्हें इधर से उधर अदलते-बदलते रहते हैं।”

मैं बोला—“वह तो बाबा तुलसीदास ने पहले ही कह दिया—

कविहि अरथ आखर बल सांचा।

अनुहरि ताल गतहिं नर नाचा॥

मैं कुर्सी छोड़कर उठा और बाथरूम की ओर जाते हुए बोला—“आप लोग सब स्नान ध्यान किए बैठे हैं, एक मैं लद्दड़ हूँ कि अभी दीन हीन अवस्था में ही भटक रहा हूँ।”

दस बजे तक मैं भी नहा-धोकर निवृत्त हो गया और मैंने जाँखन से मेज पर खाना लगाने के लिए कहा। हालाँकि अभी दोपहर होने में देर थी पर जून मास के तपते सूरज का ताप झेला नहीं जा रहा था और अभी से लू के झोके चलने लगे थे।

जब हम खाने बैठे तो मैंने खाना शुरू करने से पहले पंडित मुकुंद माधव से पूछा—“आज आपको कहा-कहाँ जाना और किस-किस से मिलना है?”

उन्होंने अपनी चुटिया में गाँठ लगाई और मेरी ओर उन्मुख हो गए “दरअसल यूनिवर्सिटी तो बंद ही है अभी। मुझे अमेरिकन लाइब्रेरी और मैक्समूलर भवन जाना है। नई सड़क से कॉलेज के लिए कुछ पुस्तकें भी खरीदनी पड़ेगी। कल एकेडेमिक कमेटी की एक मीटिंग सीनेट हॉल में होनी है उसमें भी सम्मिलित होना है।”

मैंने उन्हें खाना शुरू करने के लिए कहा तो उन्होंने पूछा—“क्या आप हमारे साथ-खाना समाप्त करने के बाद दिल्ली चलना चाहेंगे?”

“बड़ी खुशी से। मगर मैं सोचता हूँ जिन स्थानों पर आपको जाना है वहाँ मेरे साथ जाने की तो कोई उपयोगिता नहीं है।” फिर एक क्षण ठहरकर मैंने जानना

चाहा—“क्या आप दिल्ली पहले भी आते रहे हैं—मेरा मतलब है दिल्ली के भूगोल से परिचित हैं?”

पंडित जी ने मनायोग से भोजन करना शुरू कर दिया था। उन्होंने मरी जिज्ञासा का तुरत कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर खाते रहने के बाद उन्होंने हाथ रोककर कहा—“मैं दिल्ली का इतिहास कहीं ज्यादा जानता हूँ, उसके भूगोल की अपेक्षा और सच पूछिए तो मैंने दिल्ली के वही कुछ स्थान देखे हैं जहाँ मुझे काम-धाम के सिलसिले में आना-जाना पड़ता है।”

मैंने खाना खाते-खाते बात आगे बढ़ाई—“हाँ तो आपको अपने परिचित स्थानों पर काम के सिलसिले में जाना है फिर उर्मिला जी और मैं या हममें से कोई एक आपके साथ फालतू जैसा ही रहेगा। उधर आप अपना काम निपटा रहे होंगे और हम व्यर्थ और अप्रासंगिक से साथ लगे होंगे।”

मुकुंद माधव जी की आखों में सोच का भाव घिर आया। उन्होंने सिर झुकाकर अनमनस्कता से खाना खाती उर्मिला की ओर निगाहे उठाकर पूछा—“तुम क्या कहती हो?”

उर्मिला ने सिर को हल्का-सा खम देकर ऊपर उठाया और बोली—“मैं क्या बताऊँ? मैं क्या आपके साथ पहले कभी दिल्ली आई हूँ।”

उर्मिला की बात सुनकर मेरे मुँह से बरबस यह निकल गया—“अरे! आपने कभी दिल्ली आने का कष्ट नहीं किया? ताज्जुब है कि आप इतनी उम्र तक राजधानी में एक बार भी नहीं आई।”

उर्मिला की आखों में चिनगारी-सी दिखाई दी और वह खाने की ओर से अपना हाथ रोककर बोली—“राजधानी बड़े लोगों के घूमने-देखने की जगह है। हम जैसे देहाती वज्र मूर्खों का वहाँ क्या काम? किसे घुमाने की इच्छा है?”

मुकुंद माधव ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की। मैंने कहा—“यदि आप लोग पसंद करें और आपको उचित लगे तो मैं एक प्रस्ताव रखता हूँ।”

“हाँ, हाँ आपका सुझाव बहुत व्यावहारिक होगा और हम लोगों को उसी के अनुसार चलने में सहूलियत भी रहेगी। आप बतलाइए क्या करना उचित होगा।”

मैं बोला—“आज आप अकेले जाकर अपने कुछ काम निपटाइए हम लोग कल आपके साथ चले चलेंगे। फिर आप और उर्मिला जी दोनों ही साथ-साथ घूम-फिर सकेंगे।”

मुकुंद जी कई मिनट चुपचाप खाना खाते रहे और बाद में उर्मिला की ओर मुँह करके बोले—“अब जैसा ये ठीक समझती है वही करना होगा।”

मेरे प्रस्ताव पर उनकी ओर से कोई स्पष्ट सहमति नहीं थी वह उर्मिला से ही साफ कहलाना चाहते थे कि वह उनके साथ जाएंगी या वह अकेले ही अपने काम निपटाने जाएंगे।

उर्मिला उनकी बात पर झुझला पड़ी—“मैं क्या कह सकती हूँ? आप साथ लाए हैं तो आप ही जानें। आप मुझे लटकाए-लटकाए घूमने में खुश हों तो मैं आपके साथ चलूंगी। मेरे यहाँ रहने का तो कोई तुक ही नहीं है। हाँ आपको लगता हों कि आप निर्विघ्न होकर अकेले ही इधर-उधर आते-जाते अपना काम निपटा लेंगे तो बात अलग है।”

उर्मिला के सख्त रवैये से वह एकाएक घबरा उठे और बोले—“तो फिर आप लोग कल किसी समय दिल्ली में ही मिलें—आज मैं अकेला ही चला जाता हूँ।”

मैं बोला—“ठीक है आप रात को फोन पर बता दें। हम आपको निश्चित किए हुए स्थान पर यथासमय मिल जाएंगे।”

बात तय हो गई और हम लोग खाना खाकर उठ गए। मैंने मुकुंद जी से कहा—“गर्मी बहुत है—आपने अभी खाना खाया है, थोड़ी देर आराम करके जाते तो शायद ठीक होता।”

वह बोले—“हा बात तो आपकी ठीक है मगर मेरी कठिनाई यह है कि मैं खाना खाकर एक बार बिस्तर पर पसर जाऊँ तो फिर कई घंटे नहीं उठ सकता।

मैंने हसते हुए कहा—“इसके लिए कोई दंड तो आपको देगा नहीं। मजे से सोइए काम-धाम कल देखा जाएगा।”

“नहीं वैसा करना उचित नहीं होगा। इस तरह के शिथिलीकरण से संकल्प शक्ति कमजोर पड़ जाती है। जब किसी काम को, हाथ में लिया हो तो उसे तुरंत निपटाने का निर्णय किया जाना ही समीचीन है।”

“आपकी बात ठीक है। मैं तो बहुत ढीला और आलसी हूँ—शायद ही कभी संकल्प और निर्णय मेरे पास फटकते हों। कुछ भी, ऐसा विशेष करणीय मुझे नहीं दीख पड़ता जिसे थोड़े हेर-फेर के साथ या आगे-पीछे करने में लाभ-हानि की संभावना हो। हानि-लाभ दोनों ही एक जैसे हैं। यहाँ पाने और गंवाने के लिए अपने पास है ही क्या?”

“यह निर्वेद और वैराग्य का दर्शन हम सामान्य गृहस्थियों से कहा चल पाता है? भले ही कुछ फर्क न पड़ता हो पर सचय तो गवा देने से स्पष्ट ही अलग है। आप जिस दुनिया में रहते हैं वहाँ भावों का मूल्य है परंतु हम दुनियादार

“यानी दूसरे शब्दों में आपका आशय है कि हम लोग भाव बेचते हैं।” मैंने मुस्कराकर पूछा।

“मैं ऐसा कैसे कह सकता हूँ। भावना, भावुकता, कल्पना, विचार आदि का हमेशा से सम्मान होता आया है। कलाकार किसी भी समाज की मूर्धन्य शोभा है पर यदि उसे ग्राहक-गुणग्राहक नहीं मिल पाता तो उसकी परिणति क्या होती है यह शायद बतलाने की जरूरत नहीं है।”

मैं बोला—“पर भवभूति ने तो कुछ और ही कहा है।”

“हां भवभूति ने जो कहा है वह मुझे पता है पर साथ ही उसने अपने समान धर्मा और गुण ग्राहक की आशा छोड़ी नहीं है। कहीं न कहीं—कभी न कभी कोई न कोई होगा जो उसके महत्त्व को पहचानेगा, स्वीकार करेगा।”

अपनी बात को मुकुंद माधव ने आगे बढ़ाया—“मगर आज जो दुनिया है, जो जीवन है, उसके जो मार्क दबाव हैं—उनके चलते भावना को भी बाजार चाहिए, क्रेता चाहिए। क्या आप इससे इनकार कर सकते हैं।”

“नहीं! भला इनकार किया ही कैसे जा सकता है। भले ही उस तरह का वाणिज्य व्यापार न होता हो मगर कागज रंगने वालों को भी किसी न किसी रूप में विक्रेता की भूमिका निभानी ही पड़ती है।”

“परंतु कालांतर में ऐसा नहीं था। कलाकारों को राजकीय सम्मान और आह्लादकारी पुरस्कार दिए जाते थे। तब उन्हें अपनी कला को बेचने के लिए दर-दर की टोकरें नहीं खानी पड़ती थी। पर साथ ही यह भी है कि तब वह आज की तरह हर गली-मोहल्ले में बिखरे नहीं पड़े थे।”

मैंने कहा—“मगर राज्याश्रय पाने वाले कवि कलाकारों के सरोकार क्या थे, उनकी प्रतिबद्धता क्या थी—यह भी तो देखा जाना चाहिए।”

पंडित जी बोले—“कलाकारों-कवियों के विषय-वस्तु को कौन निश्चित कर सकता है। वह तो स्वच्छंद वृत्ति के प्राणी होते हैं—कल्पना में जीते और कला की साधना करते हैं।”

मैंने उनके विचार से असहमति व्यक्त की—“ठीक ऐसी बात नहीं है। कला क्या है—यह भी देखने की चीज है। नितांत काल्पनिक पात्रों की सृष्टि करके उन्हें किसी अन्य लोक का बना देने से तो कला की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती।”

मुकुंद माधव बोले—“संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि, कालिदास, भास, भवभूति, हर्ष और बाणभट्ट जैसे कवि और नाटककारों को क्या आप साधारण कोटि की विभूतियां मानते हैं?”

“नहीं, नहीं मैं इन्हे साधारण कतई नहीं मानता पर इनमे से सभी तो गज्याश्रित और दरबार की कृपा के पात्र नहीं थे। उन्होंने जनसामान्य को अपने साहित्य का विषय भी नहीं बनाया। अधिकांश जन तो उनके साहित्य में गौण स्थान ही पाते हैं। वहाँ तो राजा-महाराजा, सेठ-सामंत, रानिया-महारानिया ही दीख पड़ती हैं।”

“वह तो होना ही चाहिए। साधारण लोगों को साहित्य का विषय कैसे बनाया जा सकता है? साधारण लोगों में ऐसा होता ही क्या है जिसे महत्वपूर्ण माना जा कहा जा सके?”

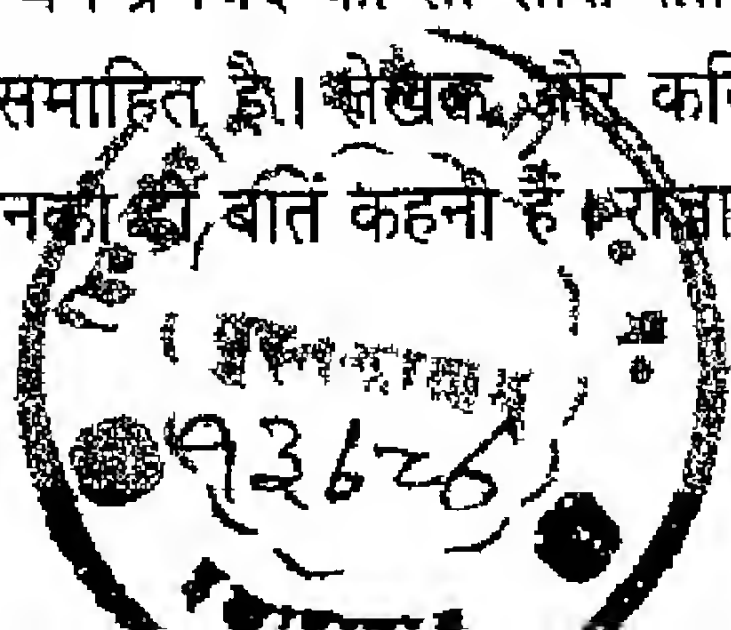
उनकी बात पर मैं हंस पड़ा और बोला—“तभी तो बहुसंख्य कवियों ने फूल-पत्तों, नदियों और राजाओं के भोग-विलास का वर्णन अपने काव्य में किया है और इसे कवि कर्म की इतिश्री मान लिया है। रीतिकाल का ज्यादातर साहित्य नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में ही लिप्त दिखाई पड़ता है। घोर शृंगारी रचनाएं जनमानस की समस्याओं से एकदम अछूती हैं इसीलिए उनका कोई सामाजिक पक्ष उभरकर नहीं आ पाता।”

मुकुंद माधव बोले—“नहीं, नहीं मैं ऐसा नहीं मानता। मध्यकाल की रचनाओं को देखिए। वह तो हमारे काव्य का स्वर्णकाल है। आप तुलसी, सूर, मीरा, जायसी की रचनाएं देखें उनके प्रति सैकड़ों वर्षों से जनमानस जुड़ा हुआ है और उनकी रचनाओं से निरंतर प्रेरणा प्राप्त करता चला आ रहा है।”

“आप बिल्कुल सही कह रहे हैं पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जितने नाम आपने मध्यकाल के कवि मनीषियों के गिनाए हैं उनमें से एक भी दरबार की शरण में नहीं गया। मीरा ने तो राजघराने के सारे आचार-विचार को ही तिलाजलि देकर सारे दरबारी कायदे ही तोड़ डाले थे और जनसाधारण के बीच जा बसी थी। बाकी कवियों का स्वर भी ‘सतन को काहा सीकरी सो काम’ का था। इन सबने दरबार की पूर्ण उपेक्षा की तभी यह जनता के गले का हार बन सके।”

“मुझे नहीं लगता कि साधारण लोगों को लेकर उत्कृष्ट साहित्य सर्जन संभव है। वह तो अत्यंत निम्न कोटि का जीवन जीते हैं—उनकी आज्ञा आकांक्षाएं भी कहीं से विशिष्ट नहीं होती फिर उनके संबंध में लिखा ही क्या जा सकता है।”

मैं बोला—“लेकिन गांधी जी के स्वातंत्र्य आंदोलन में कूदने वाले तो यही बहुत साधारण कोटि के लोग थे। प्रेमचंद का तो सारा साहित्य ही निर्बल, निरक्षर, निर्धन लोगों की गाथाओं में समाहित है। लेकिन और कवि भी तो इन्हीं के बीच से निकलता है इसलिए उसे उनकी बातें कहनी हैं। रचनाओं की प्रशस्तियां करने



वाले कवि लेखक आज के समाज में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते। प्रेमचंद ने तो अंग्रेजों के रायसाहबी के अलंकरण को यही कहकर ठुकरा दिया था कि मुझे शासकों की नहीं जनता की रायसाहबी ही इष्ट है।”

पंडित मुकुंद माधव बोले—“बहस लबी हो जाएगी—सबका अपना-अपना सोच-विचार है। आप जैसा ठीक समझते हैं वही ठीक होगा पर मैं फिर भी यह मानता हूँ कि महान् और शाश्वत साहित्य इन रोजमर्रा की स्थितियों और असंतोष को लेकर नहीं रचा जा सकता इसकी अवधारणा के लिए शास्त्रीय मानदंड ही स्थिर करने पड़ेंगे।”

साहित्य की प्रासंगिकता उसके सरोकारों और उसकी शाश्वत तथा शास्त्रीयता को लेकर तो कितनी भी देर तक बहस की जा सकती थी पर एक तो हम दोनों दो अलग-अलग ध्रुवों पर खड़े थे। इसके अलावा मुकुंद माधव को काम के सिलसिले में दिल्ली भी जाना था इसलिए मैंने बातचीत को वही विराम देते हुए कहा—“तो फिर आप जाने की तैयारी करें, मैं आपको दिल्ली जाने वाली बस पर सवार करा आऊंगा।”

“मुझे तैयारी ही क्या करनी है जी! बस कांधे के झोले में एक-दो कपड़े और डायरी डालनी है।”

मैं बोला—“तो ठीक है मैं भी कुरता डालकर आता हूँ।”

जब पंडित जी चलने लगे तो मैंने जोखन से कहा—“पंडित जी के लिए फ्रिज से पानी की एक ठंडी बोतल निकालकर लाओ।”

वह हाथ हिलाकर बोले—“पानी-बानी लादकर ले जाने का क्या औचित्य है? क्या दिल्ली में पीने को पानी भी नहीं मिलेगा?”

“पानी तो बहुत मिलेगा पर वह अस्वस्थ होने के साथ-साथ गरम भी कम नहीं होगा। ठेलों पर बिकने वाले पानी को आप पी भी नहीं पाएंगे। यहाँ से निकलेगे तो भी प्यास लगेगी ही और तुरंत आप किसी के परिवार में जाएँ, शायद यह भी आपके कार्यक्रम में शामिल नहीं है।”

“हा यह तो आप ठीक कहते हैं। तब मुझे प्लास्टिक की बोतल ही दें। काच की बोतल तो बहुत वजनी हो जाएगी।”

मैंने जोखन से प्लास्टिक की बोतल ही लाने को कह दिया।

जोखन पानी की बोतल ले आया तो मैंने स्टील की एक छोटी-सी गिलसिया भी माँवा दी और बोला—आप इस गिलसिया से पानी पीएंगे तो पानी नष्ट नहीं होगा।”

पंडित जी ने बातल और गिलसिया अपने झोले में डालकर कहा—“आप अतिथियों का जितना खयाल रखते हैं, इतना तो कोई सदगृहिणी ही रख पाती है।” फिर एक पल ठहरकर हसते हुए बोले—“आप रचनाकार लोग वास्तव में नारी हृदय रखते हैं। इसीलिए आपको अर्धनारीश्वर कहूं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।”

“अरे छोड़िए यह भी कोई ऐसा कारनामा है जिसके लिए आप इतनी बड़ी पदवी दे रहे हैं।”

पंडित जी को साथ लेकर मैं घर से निकला तो उर्मिला हमारे साथ ही घर के बाहर चबूतरे पर आकर खड़ी हो गई। वह मेरी ओर सकेत करके बोली—“मैं भी बस स्टेशन तक साथ न चलूँ?”

मैं बोला—“पति महोदय को भावभीनी विदा देने का मन है तो जरूर चलें।”

मुकुंद माधव बोले—“ये धूप में व्यर्थ परेशान होगी। आराम करने दो।” फिर कुछ सोचते हुए बोले—“बस स्टेशन दूर होगा तो एक की बजाय फालतू में दो रिक्शों का भाड़ा देना होगा।”

मैं उनकी किफायतदारी पर कुछ कहता इसके पहले ही उर्मिला तमतमाती घर के भीतर चली गई।

मैं पंडित मुकुंद माधव को दिल्ली की बस में बिठाकर लौटा तो मुझे उर्मिला नजर नहीं आई। मैंने जोखन से उसके विषय में मालूम किया तो वह बोला—“मैमजी गैस (गेस्ट) होस में सो रही है।”

मैं जानता था कि वह सोई तो क्या होगी, पंडित जी के इस वाक्य में ‘एक की बजाय फालतू में दो रिक्शों का भाड़ा देना होगा’ से मर्माहत होकर दुखी मन से विस्तर में जाकर पड़ गई होगी।

पर मैंने उसे छेड़ना उचित नहीं समझा और अपने अध्ययन कक्ष में जाकर पढ़ने-लिखने में लग गया।

“....आपके
करके क्या
हैं? मस्तिष्क
कि जो अ
लेकर आप
हर क्रिया
कोई लाख
पर वह छू
इसमें लाभ
है।...

लेखक ने त
और विडंब
समग्रता से
समझ के प्र
खाई की म
अंकित कि
समर्पण औ
केस प्रकार
किया है, स
लिए गहरी
एक ऐसा ए
पाटने में स
विलक्षण दृष्टि
से आपूरित
को दृष्टि सं

5

उर्मिला लगभग ढाई बजे मेरे अध्ययन कक्ष में आईं तो मैंने देखा कि उसकी आखें लाल थीं। संभवतः वह मुकुंद माधव की कृपणता को लेकर लज्जित और अपमानित अनुभव करती रही थी। शायद इस बात को लेकर क्षोभ की स्थिति में रोई भी थी।

मैंने उसकी मनःस्थिति का कोई संकेत पा लिया है—यह उस पर प्रकट नहीं किया और बोला—“क्या फिल्म देखने चलोगी?”

“फिल्म? इस जेठ की दोपहरी में?” फिर उसने कुछ सोचकर पूछा—“क्या आपका मन है? आप क्या फिल्म देखने के शौकीन हैं?”

“अरे नहीं जी। मैं तो कभी शायद ही भूले-भटके कोई फिल्म देखता हूँ।”

“तो क्या मेरी वजह से ही फिल्म देखना चाहते हैं?”

“नहीं! तुम्हारी वजह से नहीं अपनी वजह से भी!”

“कौन-सी फिल्म लगी है?”

“कितने ही टाकिज हैं इस शहर में। पहले तो दो ही थे मगर देखते-देखते अब तो दस-बारह हो गए हैं। शहर भी तो पहले की अपेक्षा इधर-उधर बहुत फैल गया है।”

“सारे कस्बों की यही गति है। सुरसा के मुँह की तरह फैलते चले जा रहे हैं। फिर आपके शहर की तो बात ही अलग है—एक तो औद्योगिक नगरी इसके अलावा दिल्ली के इतने नजदीक यह तो एक तरह से दिल्ली का एक उपनगर जैसा ही है।”

उस एक-एक याद आया कि मैंने सिनेमा देखने की बात कही थी। उसने पूछा—“कौन-कौन-सी फिल्में लगी हैं?”

“यह तो पता नहीं मगर अखबार में देखने से पता चल जाएगा कि किस हाल में कौन-सी फिल्म लगी है।”

वाते करते-करते तीन बज गए तो मैं बोला—“चलो अब मैटिनी शो क्या देखना—वह तो एक तरह से जहमत ही हो जाएगी। लू नपट में सिनेमा देखने की तुक भी क्या है। अब शाम का शो ही देख लेंगे।”

मैंने उर्मिला से पूछा—“सुबह तो दरअसल नाश्ते के समय ही खाना खा लिया गया था। मैं समझता हूँ अब तक आपको खासी भूख लग गई होगी।”

“पहले तो आप यह बार-बार ‘आप’ ‘आप’ कहने से बाज आइए। इससे बहुत पराएपन का बोध होता है और ऐसा भी लगता है जैसे आप मुझे स्वयं से काफी दूर ठेलकर रखना चाहते हैं। सीधे से तुम कह सकते हैं। मेरा नाम भी इतना कठिन नहीं है कि इसके उच्चारण में आपको कोई कष्ट हो।”

मैं बोला—“नहीं, उच्चारण में कोई दिक्कत नहीं है मगर मेरा सस्कार आड़े आ जाता है। मुंह से तुम शब्द यदा-कदा ही बोल पाता हूँ मगर आप कहती हैं तो कोशिश करूंगा। वैसे हो यह भी सकता है कि मैं जब आपसे ‘आप’ कहूँ तो उसे आप तुम के रूप में ही ग्रहण करे। मेरा मतलब है कि उसका आशय ‘तुम’ से ले।”

उर्मिला मुक्त भाव से हस पड़ी। मैंने देखा उसके मुख पर जो अवसाद देर से फला हुआ था और वह मन में जो सताप झेल रही थी पता नहीं एकाएक वह कहा तिरोहित हो गया था। हसते हुए वह वास्तव में बहुत सुंदर और सरल दीख पड़ती थी। ऐसी हसी को सहज रूप से या जाने वाला यदि उसका तिरस्कार या उपेक्षा करता था तो मैं उसे अभागा ही कहूँगा। किसी युवती को बेबाक हसते हुए देखना और यदि उसकी हसी आपके हिस्से में ही आती हो तो वह किसी भी मूल्य पर महंगी नहीं है।

हंसी धमने पर उर्मिला बोली—“लेखक महाशय, जो भी संवोधन हम किसी को देते हैं उसे किसी दूसरे रूप में वह कैसे ग्रहण कर सकता है? किसी व्यक्ति को यदि आप भोंडा कह देंगे तो क्या वह उसका आशय स्वयं को सुंदर या सुस्पष्ट कहे जाने के अर्थ में ग्रहण कर लेगा। कम से कम आपको तो शब्दों का यथारूप ही प्रयोग करना चाहिए। मेरा तात्पर्य अभिधा से है।”

“चलो इसमें क्या कलहबाजी उर्मिला जी।” कहकर मैंने जोखन की आवाज दी और मैं उर्मिला से बोला—“चलिए अब तो मैं आपको नाम से ही बुला लिया करूँगा। इससे तो खुश हैं।”

“यह ‘उर्मिला जी’ तो ‘आप’ से भी ज्यादा भारी-भरकम वल्कि कहिए पहाड जसा संबोधन है। क्या मैं आपको इतनी वजनी, दिखलाई पड़ती हूँ कि आप मेरे नाम के साथ जी लगाने की अनिवार्यता समझे?”

“बड़ी मुश्किल है अपने देश और भाषा की संस्कृति और आचार संहिता जिसमें किसी को ‘तू’ कहो तो बुरा माने न कहो तो बुरा माने। आप कहो तो उस संबोधन वजनी लगे न कहो तो उसे अपना तिरस्कार लगे।”

“तिरस्कार भी न करे—बुरा लगने वाली बात भी न कहे बस ‘आत्मीय’ लगने वाले संबोधन दे। यही पर्याप्त है मेरे लिए।”

“सबसे आत्मीय तो ‘प्रिय’ है। स्त्री को ‘प्रिया’ कहा जा सकता है। क्या मुझे आपको प्रिया कह सकने का अधिकार मिल सकता है? इस पर भी आप तैयार नहीं हो पाएंगी—मैं जानता हूँ।”

“इस पर अगर मैं तुरंत तैयार हो जाऊँ तो आप क्या देंगे?”

उसके इस निर्व्याज स्वीकार पर मैं एकदम अवाक रह गया। कोई भी युवती चाहे वह कुमारी हो अथवा विवाहिता, अपने घनिष्ठतम परिचित अथवा आदरणीय को भी यह अधिकार नहीं दे सकती। बस प्रिया कह सकने का अधिकार तो किसी एक का ही हो सकता है।

मुझे चुप देखकर वह मुस्कराई और बाकपन से बोली—“मैंने तो आपको एक इच्छित संबोधन की स्वीकृति दे दी अब आप जरा इसका प्रयोग तो करके बताइए।”

मैंने काफी ऊहापोह के बाद कहा—“यह संबोधन अधिकार नहीं दायित्वों से जुड़ा है। शायद मैं न इसके योग्य हूँ न अधिकारी फिर इसे भी क्याकर सहज मान लूँ?”

“कोई पहली नहीं इसमें। एकदम सहज और आसान बात है। आपके बहुत से नाम होते हैं। जन्म नाम कुछ होता है, घर वाले उसे बदलकर कुछ और रूप दे देते हैं। मित्र उसमें भी कुछ घटा-बढ़ा देते हैं। विवाह से पहले आपके मेरे लड़की का नाम कुछ और होता है। विवाह हो जाने पर ससुराल में कुछ और नाम से पुकारा जाने लगता है। कभी-कभी पति ही कोई अन्य नाम दे देता है। क्या फर्क पड़ता है आपके लिए यदि उर्मिला ‘प्रिया’ हो जाए।”

मेरी ठहरी हुई सास इतनी देर बाद सम स्थिति पर आई और मैं बोला—“बेचारी आरत की यह तो वाकई बड़ी दुर्गति है कि जहाँ देखो उसके नाम रखे जा रहे हैं।”

“नाम रखे जाना ता गाला हो गया । रखे न कहिए, दिए जा रहे हैं बोलिए ।
वही ज्यादा सही होगा शायद ।”

“अच्छा । हा यह ठीक है अब मैं आपको उर्मिला जी की बजाय ‘प्रिया जी’
कहकर बुलाऊंगा इस पर तो आपको कोई आपत्ति नहीं है?”

“मुझे आपत्ति है और खूब है ।” उर्मिला ने सिर को एक ओर झटककर कहा ।
मे कुछ पूछता तब तक जोखन मेरे सामने आकर खड़ा हो गया ।

मैं बोला—“आज के मारे अखबार उठा लाओ ।” जब जोखन कमरे से बाहर
निकल गया तो मैंने उर्मिला से पूछा—“हा आप क्या कह रही थी तुम ।”

“आपने मुझे प्रिया जी कहकर फिर गाजर-मूली में बदल दिया ।”

मैं समझ गया वह ‘प्रिया जी’ कहने से भडक उठी थी । मैं हंस पड़ा और
बोला—“तो फिर ‘सुप्रिया’ पर समझौता रहा । मैं आज से और अब से आपको
सुप्रिया कहूंगा । कोई आपत्ति?”

वह संक्षिप्त बोली—“कोई आपत्ति नहीं । आपने कविता में ही बदल दिया
प्रिया को । प्रिया तो वैसे ही सुप्रिया हो जाती है लेकिन यदि वह पहले से ही सुप्रिया
हो तो तूफान ही बरपा कर डालेगी । अब जब यह आपने कर ही डाला तो आप ही
संभालेंगे इसके परिणाम । हमारे महाशय जी जब आपके मुह से मेरे लिए प्रिया या
सुप्रिया संबोधन सुनेंगे तो पता नहीं क्या होगा ।”

“कुछ नहीं होगा । यह नाम मैं प्राइवेट तौर पर ही इस्तेमाल करूंगा—यह
सबके लिए और आम नहीं होगा ।”

उर्मिला बोली—“ठीक है, तो यही सही ।”

इसी समय जोखन अखबारों का बंडल उठा लाया । मैंने अखबार में उन फिल्मों
के नाम देखने शुरू कर दिए जो शहर के विभिन्न छविगृहों में लगी हुई थीं । एक
हाल में अंग्रेजी फिल्म ‘ब्लू एंजिल’ लगी देखकर मैं उर्मिला से बोला—“क्या आप
अंग्रेजी फिल्म देखना पसंद करेंगी?”

“पता नहीं कैसी होगी?”

“फिल्म का नाम ब्लू एंजिल है ।”

“फिर तो यह ब्लू फिल्म होगी । सुना है ब्लू फिल्म बहुत अश्लील होती है ।”

उसके समय पर मैं हस पड़ा तो उसने मेरे हसने का कारण पूछा ।

मैंने कहा—“भई यह ब्लू फिल्म नहीं है इसका नाम ‘ब्लू एंजिल’ यानी नीला
देवदूत या नीला फरिश्ता है । फिर यह भी है कि भयानक गर्मी में तीन घंटे की
घुटन भी नहीं झेलनी पड़ेगी यह फिल्म डेढ़-दो घंटे से ज्यादा की नहीं होगी ।”

उमना कुछ दूर तक साचता रहा और फिर वाला मगर मुझे तो उसकी अंग्रेजी ही समझ में नहीं आएगी। मेरी तो अंग्रेजी ही एकदम चौपट है।”

“मे कौन-सा विलायत में पैदा हुआ हूँ। मेरी अंग्रेजी की समझ तुम्हारे जितनी ही है।”

“फिर भी, आप तो लेखक हैं। अंग्रेजी के अखबार और किताबें तो पढ़ते ही हैं।”

“अंग्रेजी पढ़ लेने से कुछ नहीं होता। उन लोगों के उच्चारण बहुत ऊट-पटांग होते हैं। बस कभी-कभी इतना जरूर समझ में आ जाता है कि कुल मिलाकर कहानी क्या है।”

कहानी ही पढ़नी हो तो फिर फिल्म देखने की क्या जरूरत—उपन्यास-कहानियां न पढ़ी जाएं।”

“ये फिल्में भी कहानियों और उपन्यासों पर ही तो आधारित होती हैं। और जहां तक हिंदी की बबड़िया फिल्मों का सवाल है, वह तो ज्यादातर अंग्रेजी फिल्मों के मसालों पर ही तैयार की जाती है। यह बात अलग है कि फिर वह न अंग्रेजी की रहती है न हिंदुस्तानी। अजीब चू-चू का मुरब्बा लगती है। यही कारण है कि कोई मुझे घसीटकर न ले जाए तो मैं फिल्में देखने नहीं जाता।”

उर्मिला बोली—“पर कभी-कभी तो बड़ी अच्छी फिल्में बनती हैं। मैंने गुरुदत्त की कई फिल्में देखी हैं। बड़ी मार्मिक होती हैं।”

“हां थोड़े से डायरेक्टर हैं जो साफ-सथुरी फिल्में बनाते हैं। गुरुदत्त-वी शांताराम, हषिकेश मुकर्जी वगैरह।”

“पहले की फिल्मों में भी अच्छी बातें दिखलाई जाती थीं। सोहराब मोदी की ऐतिहासिक फिल्में तो एकदम अनूठी होती थीं।”

“चलो तो कोई जल्दी नहीं है, अभी। सोच लो। हो सकता है शाम तक पंडित जी भी लोट आए। उन्हें भी घसीट ले चलेंगे।”

मेरी बात पर उर्मिला हस पड़ी।

“इसमें हसने की क्या बात हो गई।”

“कुछ नहीं। आपने पंडित जी के फिल्म देखने की बात कही तो मुझे हसी आ गई। वह तो फिल्मों के नाम से ही भड़क उठते हैं। टेलीविजन पर कभी-कभी कोई बहुत अच्छी फिल्म आती है पर क्या मजाल कि वह उसकी ओर आखें उठाकर भी देख लें। कहते हैं, यह फिल्में हमारे आचरण और संस्कृति को गारत करने पर तुली हुई हैं। इन्होंने सारे सामाजिक मूल्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।”

मैने हसकर कहा—“जोर देकर उन्हे सत ज्ञानेश्वर दिखाती—उसमे तो एक भेसा भी वेद पाठ करता है।”

जोखन दरवाजे में आते हुए बोला—“काह चाय बना दऊ?”

मैने उर्मिला की ओर देखकर पूछा—“क्या चाय पीने का मन है?”

“आप इस टाइम चाय पीने हो तो बनवा लीजिए—मैं भी साथ दे दूगी। वैसे मैं तो चाय-चाय की इल्लत ज्यादा पालती नहीं हू।”

“तो कुछ ठंडा पी लो।”

“नहीं-नहीं उसकी क्या जरूरत है। मैं भी आधा प्याला चाय ही पी लूगी।”

मैने जोखन से कहा—“जोखन इन्हें अब तक भूख भी लग आई होगी। खाना तो आज बहुत जल्दी ही खा लिया गया था। चाय के साथ कुछ बना लेना। न हो तो पड़ोस का हलवाई समोसे तल रहा होगा वही ले आना।”

उर्मिला कुर्सी से उठते हुए बोली—“जोखन भैया समोसे-अमोसे लाने के फेर में मत पड़ो। बस तुम चाय ही बनाओ।”

जोखन के पीछे-पीछे जाते हुए उसने कहा—“जोखन भैया क्या घर में थोड़ा वेसन पड़ा होगा।”

पता नहीं जोखन ने क्या कहा। मैं जोखन की आवाज सुन नहीं पाया।

मैं भी कुर्सी छोड़कर उठने ही जा रहा था कि तभी जोखन मेरी डाक लेकर आ गया।

कई पत्र और पत्रिकाएं आई थीं। मैं उन्हें खोल-खोलकर, पढ़ने लगा। अधिकांश पत्र संपादकों और प्रकाशकों के थे और कुछ पाठकों के खत थे।

मैं पत्र पढ़ने में लगा था कि तभी जोखन ट्रे लेकर आया और ट्रे मेज पर रखते हुए बोला—“मैम जी पकौड़ी तल रई हैं—उनन्ने कयो है के गरम-गरम खाय लेवो नाय तो ठंडी है जाएगी।”

मैने आखें उठाकर देखा तो मेज पर चाय और पकौड़ियों की प्लेट रखी थी।

मैं बोला—“जोखन ये क्या गजब है? इतनी पकौड़िया कौन खाएगा भई? फिर उन्हे भी तो भेजो। मैं क्या यहां बैठकर अकेला ही चाय पिऊंगा?”

जोखन ने जाकर यही बात उर्मिला से कही होगी। तीन-चार मिनट बाद हलवे की प्लेट लेकर वह भी आ गई और बोली—“जब घर में ही सारी चीजे उपलब्ध है तो आप फिर बाजार से खाने की चीजे क्यो मगवाते है।”

“यह हलवा और पकौड़िया हमारे नसीब में कहा है सुप्रिया पंडितानी। इन्हे हमारे लिए बनाने वाला कौन बैठा है इन सूनी दीवारों के बीच।”

ग़ुसा बात नहा ह । इच्छा होनी चाहिए सब बनाने वाल आ जाते या हो जात हे ।”

मे बोला—“वह कहावत तो आपने शायद सुनी ही होगी कि इच्छाए घोडे हुआ करती तो भिखारी भी पैदल न चलते ।”

“कहावत तो मैंने सुनी या नहीं सुनी पर मैं एक बात तो जानती हू कि अगर आदमी मे किसी चीज की इच्छा पैदा हो जाए तो वह चीज उसे मिल ही जाती हे या वह उसे किसी-न-किसी तरह प्राप्त कर ही लेता है ।”

उसके इन वाक्यों से मेरे भीतर उथल-पुथल-सी मच गई । क्या वास्तव मे उर्मिला सत्य ही कह रही थी? उसे क्या पता मैंने जिसे कभी मन से चाहा था । मेरी चाहत जिसके लिए दुर्निवार थी और लगता था कि उसको पाए बिना मेरी सास ही धम जाएगी और मैं एक क्षण भी नही जी सकूंगा—क्या वह मुझे मिली?

उर्मिला ने मुझे विचारों में डूबे देखकर कहा—“अरे यह क्या अधेर है? आप किस सोच मे ग़र्क हो गए? चाय और पकौडिया तो ठडी हो जाएगी ।”

उसके टहोके से जैसे मैं सोते से जाग पडा ।

मेरी अस्त-व्यस्त मानसिकता का शायद उसे पता चला गया । वह बोली—“आप मेरी ऊल-जलूल बात सुनकर इतने अस्थिर क्यों हो उठे? क्या मैंने कोई अनुचित बात कह दी थी ।”

मैंने एक लबी सांस छोड़कर कहा—“नहीं-नही कुछ नही । तुमने तो ठीक ही कहा पर शायद मैं ही उस लायक नही निकला ।”

उर्मिला ने चाय का प्याला मेरी ओर सरकाते हुए कहा—“आप यह क्या कह रहे हैं—किस लायक न होने की बात कह रहे हैं आप?”

मैंने चाय का प्याला उठाकर होंठों की ओर ले जाते हुए कहा—“छोडो उस बात को । वह जहाज लंगर खोलकर अब बहुत दूर जा चुका है । इतना दूर कि आखो से दिखाई नही पडता । दुरांत पर ओझल हो गया कभी का ।”

मेरी आवाज मे शायद कोई ऐसी लरज प्रतिध्वनि हुई होगी कि उर्मिला एकदम गभीर हो उठी । वह बोली—“मैंने भूल से शायद कोई ऐसी बात कह दी है जिससे आप विचलित हो उठे । क्या मुझे नही बताएंगे वह क्या बात थी—वह कौन थी?”

मैं बोला—“नही छिपाने जैसा कुछ नहीं है मगर उससे क्या होगा । सुनकर शायद तुम भी उदास ही हो उठो । छोडो-छोडो चाय पीओ ।”

उसने चाय को हाथ भी नही लगाया न पकौडियां छुई । उसके कंठ से एक मार्धुय जगाता-सा स्वर फूट पडा—“मैं कभी-कभी सोचती थी कि कवि लोग इतने

अकेले आर उदास क्यों होते हैं। आपके वार में भावों का तूहल था। कि आपने घर-परिवार क्यों नहीं बसाया पर अब वह बात समझ में आ गई। वृत्ति न मानें तो पूछू वह कौन थी—क्यों आपके जीवन से निकल गई?” फिर वह कुछ क्षण ठहरकर बोली—“आप कविता भी जरूर लिखते होंगे। अपनी कोई कविता सुनाइए न।”

“मुझमें कविता की फरमाइश?” मैंने आश्चर्य व्यक्त किया।

“कविता की क्यों नहीं? मैं दावे के साथ कहती हूँ कि आपका यह उपन्यास कहानियों का छद्म मुझे धोखा नहीं दे सकता। हालाँकि मैंने तो आपके पहले उपन्यास से ही जान लिया था कि आप मूलतः कवि हैं पर सोचती थी वह सब काल्पनिक ही होगा। आपके पहले ही उपन्यास का अन्त नायिका के उस पत्र से हुआ है जो बिना मिले—मात्र एक पत्र छोड़कर चली जाती है। कहिए तो वह पत्र मैं आपको सुनाऊँ?”

“नहीं नहीं, वह तो सब वास्तव में एक कल्पना ही है। मेरे जीवन का उसमें कुछ भी नहीं है। बहुत लोगो ने उसे मेरी आपबीती मानकर धोखा खाया है। उसको लेकर न जाने कितने पाठकों के जिज्ञासा पूर्ण पत्र आए हैं।”

“पर मैं कह सकती हूँ कि मैंने बिल्कुल धोखा नहीं खाया, हम स्त्रियाँ किसी पुरुष की असलियत को जानने-समझने में ज्यादा देर धोखा नहीं खातीं।”

इस पर मैं हस पड़ा तो उसने पूछा—“इसमें हंसने जैसा क्या है?”

“यही कि स्त्रियाँ पुरुष को समझने में ज्यादा देर नहीं थोड़ी देर ही धोखा खाती मगर खाती जरूर हैं। है न?”

“चलिए यही सही मगर असली बात को टालने की कोशिश न कीजिए मैं आपसे पूछकर जरूर रहूँगी।”

“अरे भाई कुछ भी नहीं छिपाया है आपसे।”

“मैं किसी से भी नहीं कहने जा रही हूँ—बस आपकी मनोव्यथा को सहानुभूति के स्तर पर लेना चाहती हूँ।”

मैंने उर्मिला का उत्कट आग्रह देखकर कहा—“अच्छा तो फिर मैं तुम्हें एक कविता सुनाता हूँ मगर साथ ही यह भी बतला दूँ कि यह कविता मेरी नहीं है।”

“न सही आपकी, जिसकी भी हो सुनाइए।” फिर एक क्षण ठहरकर उर्मिला ने पूछा—“उसका शीर्षक क्या है।”

मैंने कहा—“शीर्षक है ‘भूले हुआ का गीत’।”

“अच्छा तो फिर सुनाइए।”

कविता न जाने कितने वर्षों पहले पढ़ी थी सो कठस्थ थी—हा कवि के नाम

“....आप
करके क
हैं? मस्ति
कि जो :
लेकर आ
हर क्रिय
कोई लाख
पर वह :
इसमें ला
है ।...

लेखक ने
और बिड़
समग्रता से
समझ के ।
खाई को.
अंकित दि
समर्पण अ
किस प्रका
किया है,
लिए गहरी
एक ऐसा
पाटने में र
विलक्षण दा
से आपूरित
की दृष्टि र

औ लेकर भ्रम था इसलिए मने वह कावता हा सुनाइ :

दरसों के बाद कभी
हम तुम यदि मिले कहीं
देखे अपरिचित से
लेकिन पहचाने ना
याद भी न आए नाम
रूप रंग काम धाम
सोचे पहचान है
पर मन में माने ना
हो न याद एक बार
आया तूफान ज्वार
बद मिटे पृष्ठों को
पढ़ने की ठाने ना
बातें जो साथ हुई
वर्षों के साथ गई
और जो शेष रही
उनको भी जाने ना ।

उर्मिला दन्त-चित्त होकर पूरी कविता सुनती रही । कविता की समाप्ति के बाद भी वह कई क्षण स्तब्ध हो बैठी रही । लगता था जैसे उसकी दृष्टि कहीं बहुत दूर किसी अन्य लोक में चली गई थी ।

मैंने अपने मनोभाव से उभरते हुए हंसकर कहा—“अरे भई कहा खो गई। कविता तो कब की खत्म हो गई ।”

जैसे उसकी तद्रा टूटी । वह खोए हुए स्वर में बोली—“नहीं-नहीं कविता खत्म नहीं हुई—कविता कभी समाप्त होती भी नहीं है । भले ही कविता में कुछ भी लिखा गया हो पर बात आज भी उसी बिंदु पर खड़ी है—चिर प्रतीक्षा रत—किसी के लौट आने की प्रतीक्षा में ।”

मैं बोला—“गया हुआ कुछ तो कभी लौटता नहीं है । बस हमारी स्मृति के निमृत्त कोने में एक कील की तरह गड़ा रह जाता है ।”

“हां वही तो । मैं भी तो यही कहती हूं ।”

मैंने जैसे वर्षों पुरानी गर्द को झाड़ते हुए कहा—“बहुत हुआ, हवाओं में घूमने भटकने में क्या धरा है । वर्तमान ही काफी है—वही एक चुनौती है ।”

“हा, वर्तमान ही चुनौती है पर वह भी तो अतीत का ही अगला चरण है। क्या आप यह नहीं मानते?”

“मानता हूँ भई, सब कुछ मानता हूँ।” कहकर मैं उठा और कमरे से बाहर निकल गया।

मैंने जोखन को इधर-उधर देखा पर वह कहीं दिखलाई नहीं पड़ा तो मैं उसकी कोठरी की ओर बढ़ गया।

जोखन अपनी कोठरी की दहलीज पर बैठा अपने फटे कुरते की मरम्मत कर रहा था। मैंने हसते हुए कहा—“औरतों का काम चल रहा है जोखन।”

उसने मेरी ओर आखे उठाकर देखा और सिर हिलाकर बोला—“नाय तो।”

“नाय तो क्यों? सिलाई में लगे हुए हो। क्या यह औरतों का काम नहीं है?”

“जा काम कू बी कन्न (करने) लगो वोई अपनो काम है जात हैगो। न्यो (यों) देखो तो रोटी-पानी, वर्तन-भाड़े सबई कू सभारना औरतन के ई कारज ठेरे। पर खुद कन्न लगो तो वोई आदमीन के काम है जात है, का ना है जात है?”

जोखन ने एकदम ठीक और पते की बात कही थी। जोखन ने सारा घर किसी औरत की तरह ही तो सभाला हुआ था। अब वह बरसों से मेरे साथ रहता था और गृहस्थी के सारे धंधे करता चला आ रहा था। उसका गांव जाना तो कभी-कभी ही हो पाता था। जब उसका कुरता बनियान या धोती फट जाती थी तो उनकी सिलाई या थेंगली बगैरह खुद ही लगा लेता था। हो सकता है उससे औरतों का कौशल न निभ पाता हो पर वह जैसे तैसे कर तो लेता था।

मैं सोचने लगा, अगर जोखन मुझे छोड़कर चला जाए तो मैं क्या करूंगा? क्या यह सब काम-धंधे करने या सीखने नहीं पड़ेगे?

मैं उल्टे पांव लौटते हुए बोला—“ठीक है, जब तुम्हारा यह मरम्मत का काम खत्म हो जाए तो चाय बना देना।”

उसने दात से तागा काटते हुए कहा—“अबई हाल बनाय देत हूं।”

मैंने ठहरकर कहा—“चाय बस मेरे लिए बनाना—वो जो आई हुई हैं वह ज्यादा चाय नहीं पीती—उनके लिए नीबू की शिकंजी ही बनाना।”

“हओ” कहकर वह सुई में तागा डालने लगा।

मैं लौटकर कमरे में आया तो मैंने उर्मिला को कुर्सी में मूर्तिवत् बैठे देखा।

मैंने जैसे उसकी तद्रा भग करते हुए पूछा—“क्यों भई सुप्रिया! क्या आज इसी तरह बैठा रहने का इरादा है? लगता है कविता सुनने के बाद किसी दूसरी दुनिया में खो गई हो।”

“....आप
करके क
हैं? मस्ति
कि जो :
लेकर आ
हर क्रिय
कोई तारु
पर वह :
इसमें ला
है ।...

लेखक ने
और विड
समग्रता से
समझ के :
खाई को.
अंकित वि
समर्पण अं
किस प्रकार
किया है,
लिए गहरी
एक ऐसा
पाटने में :
विलक्षण द
से आपूरित
को दृष्टि :

“क्या करू, आपकी कविता था हा कुछ ऐसी ।”

“मेरी नहीं कहो—कवि की कहो । मेरे सुना देने से ही तो वह मेरी नहीं हो
जाती ।”

“इससे क्या अंतर पड़ता है । जो कुछ भी आप हृदयगम कर लेते हैं वही
आपका हो जाता है । इसीलिए तो कला किसी एक की बनकर नहीं रह जाती—वह
सार्वबोधिक—सार्वकालिक और सार्वजनीन हो उठती है । हा, यश की बात अलग है
वह जिसे भी मिले ।”

“तुमने पते की एक बड़ी बात कह दी—‘जिसने सुना कहने लगा मेरी कहानी
है ।’ वही रचना महान् है जो सार्वजनीन अनुभूति का रूप ग्रहण कर ले ।”

“बड़े कलाकार भीतर से बड़े जटिल होते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति बहुत
सहज और सुग्राह्य होती है ।” फिर उसने मेरी ओर आखे उठाकर देखा और मुक्त
भाव से हंस पड़ी ।”

“किस बात पर हसी आ गई?”

“कुछ नहीं ।”

“नहीं, कुछ तो है जो तुम यो हठात् हंसने लगी ।”

“क्या बिना बात हस भी नहीं सकते ।”

“जरूर हस सकते हैं और तुम तो अभी उस उम्र के दौर में ही हो जब बिना
बात हस या रो सकती हो ।”

उसने अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को मेरे चेहरे पर केन्द्रित करके पूछा—“सच्ची?
क्या यह कोई खास उम्र ही होती है जब आदमी वे बात के भी हस या रो सकता
है?”

“हा, मुझे तो ऐसा ही लगता है । जब आपके पास अपना ऐसा कोई अनुभव
नहीं होता कि आपको रोना या हंसना आ जाए या रोने हसने का स्पष्ट कारण
सामने हो । क्या तुमने ऐसे बच्चे नहीं देखे जो पैदा होने के चार-छह महीने बाद
सोते-सोते हसते या मुस्कराते हैं अथवा उनके चेहरे पर सुबकी लेते हुए रोने का-
सा भाव आता है ।”

“हा, दादी को मैंने कई बार कहते तो सुना था कि छोटे बच्चों को बैमाता
हसाती-रुलाती है । हो सकता है उन्हें अपने पूर्वजन्म की कोई बात याद आ जाती
हो ।”

मैंने एक ठहाका लगाकर कहा—“पूर्वजन्म! क्या तुम पूर्वजन्म भी मानती
हो?”

हर कोई मानता है

“मैं तो नहीं मानता।”

“बस कहने की बातें हैं कि आप पूर्वजन्म नहीं मानते। सब मानते हैं—दीता हुआ काल ही हमारा पूर्वजन्म है। उसी को लेकर हम सब जीते हैं—हंसते-रोते हैं। हमारे सारे क्रिया-कलाप हमारे व्यतीत या अतीत से ही तो जुड़े रहते हैं। जब आप हमारे नगर में आए थे उससे पहले मैं सिर्फ आपको आपकी रचनाओं के सहारे जानती थी। आपसे मिलने के बाद आपसे बातें करने और फिर भेंट करने की इच्छा हुई और उसका परिणाम यह आज या वर्तमान है कि नहीं? अब बताइए अतीत इस सारी प्रक्रिया में पूरी तरह उजागर नहीं हो रहा है?”

“अतीत वर्तमान मैं नहीं सोचता। बस प्रासंगिकता ही सार्थक है।”

“अब आप यह प्रासंगिकता और सार्थकता ले बैठें। लेखक जी आपसे मैं यह मर्म जानना चाहती हूँ कि यह जो आप उपन्यास-कहानी-कविता आदि लिखते हैं इसमें कितना आज होता है? सब किस्से-कहानियाँ बीते हुए काल में से ही तो निकलकर आते हैं। जब आप कहेंगे ‘आज मुझे यह अनुभव हुआ’ या ‘ऐसा लगा’ तो जरा यह बतलाएँगे ये कौन-सा काल हुआ—‘हुआ और लगा’ को तो तीसरी कक्षा का अबोध बच्चा भी ‘वर्तमान काल’ नहीं कहेगा।”

जोर से हंसकर मैंने अपने दोनों हाथों में सिर धाम लिया—“हाय राम किस मास्टरनी से पाला पड़ गया। वाकई मेरा व्याकरण तो जीरो से भी नीचे निकला।”

“इसमें व्याकरण की तो कोई बात ही नहीं है और न मेरे मास्टरनी होने से कोई अंतर पड़ता है। लोग ‘आज’ ‘आज’ चिल्लाते भर हैं अगर ‘आज’ इतना ही महत्वपूर्ण होता तो आज का अखबार कल को रद्दी न बनता उसे आप बीतने न देते। दूर क्यों जाते हैं, क्या सारी पुरानी कहानियाँ जो आज भी पढ़ी जा रही हैं ‘एक था राजा’ या ‘बस अपना ए टाइम’ से शुरू नहीं होतीं?”

“अच्छा देवी जी मैं तो फेल कर गया। मैं तो वही बात फिर पूछता हूँ कि तुम हंसी किस बात पर थी?”

उर्मिला हसी—“‘फेल कर गया नहीं फेल हो गया’ ही शुद्ध है।”

“‘शुद्ध’ को मारो गोली वह हंसने वाली बात बताओ।”

“अब मुझे याद नहीं कि मैं क्यों हसी थी। फिर मैंने कह तो दिया कि बिना बात ही हंसी आ गई थी।”

मैंने कहा—“नहीं, वह तुम्हारी बहुत कूट हंसी थी। ऐसी हंसी आत्म-विनोद से ही पैदा हो सकती है।”

“अर। अच्छा वा हसी।”

“जी हा वही जिससे सारा हसी पुराण खगोला जा रहा है।”

“कोई खास बात नहीं थी। मुझे बस इस बात पर हसी आ गई थी कि आपके सामने एक-सं-एक बड़ी दार्शनिक बात बोले जा रही थी बतज छोटा मुंह बड़ी बात और आप मुझे मूर्खा से सहमत हाते चले जा रहे थे। बस यही सोचकर मैं अनायास हंस पड़ी थी।”

मामने से जोखन को आते देखकर मैं बोला— ‘तो जोखन तुम्हारे लिए नीवू की शिकजी बनाकर ला रहा है। उसे पीकर तन-मन से शीतल हो जाओ और फिर सोचो कि आज शाम का क्या कार्यक्रम बनाया जाय।’

जोखन ने कमरे में आकर ट्रे स्टूल पर रखते हुए पूछा—“भैया जी सजा कू का खाओगे आप लोग? सब्जी-दार खाओगे के पराठे बनाय दऊ।”

मैंने उर्मिला की ओर देखते हुए कहा—“जो तुम्हारी मेहमान कहे वही खाना बनाओ।”

“मेरी बात छोड़िए, जो आपको रुचे वही बनवाइए। मैं तो शाम को अब कुछ खाऊंगी नहीं। हलवा पकौड़ी खाकर पेट इस कदर भर गया है कि रात को कुछ भी खाने की गुजाइश ही बाकी नहीं रह गई है।”

मैं बोला—“मुझे मालूम है कि तुम पंडित जी के वियोग में भूखे रहना चाहती हो। लेकिन यह भी तो सोचो अगर रात को दिल्ली में ठहरने का उनका मन ही न हुआ और वह लौट आए तो क्या अपने साथ उन्हें भी भूखा नहीं मारोगी?”

जोखन ट्रे रखकर वापस चला गया तो मैंने शिकंजी का गिलास उठाकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—“अभी तो शाम ढग से हुई भी नहीं है। अभी से यह तय मत करो कि खाना नहीं खाना है। हम लोग फिल्म देखने चल रहे हैं। वहा से लोटते-लोटते साढ़े नौ तो बज ही जाएंगे, तब तक हाँ सकता है पंडित जी भी लौट आए।”

“आप अंग्रेजी फिल्म देखने की बात कह रहे थे पर कहीं ऐसा न हो कि मैं वहा जाकर बुद्धू ही बनूं।”

“छोड़ो तो अंग्रेजी फिल्म। बासु भट्टाचार्य की निर्देशित एक फिल्म ‘आविष्कार’ भी किसी पिक्चर हाउस में लगी है। वही देख लेंगे। यह आदमी अपनी फिल्मों में हमेशा गंभीर विषय और समस्या उठाता है। जहीन डाइरेक्टर है।”

“पर गंभीर फिल्म देखने से क्या लाभ? जिंदगी में न जाने कितना रोना बिसूरना फैला पड़ा है चारों ओर। यदि फिल्म में जाकर भी वही सब देखना-सुनना

हा तो तीन-चार घंटे गास्त करने से क्या उपलब्ध होगा?"

“अब इस मुल्क में कोई चार्ली चैप्लेन तो है नहीं जो गंभीर से गंभीर वान को भी हास्य व्यंग्य का जामा पहनाकर कोई बड़ी वान कह जाए।”

उसने भोलेपन से पूछा—“हमारे देश में अच्छे हास्य व्यंग्य की इतनी कमी क्यों है? आप लेखक लोग इस तरफ ध्यान क्यों नहीं देते। जबकि इस देश में हर कदम पर इतनी विसंगतियाँ और विद्रूप खड़े मिलते हैं कि हास्यास्पद स्थितियों पर खूब जमकर लिखा जाना चाहिए।”

मैंने उर्मिला की बात पर गंभीरता से सोचते हुए कहा—“दरअसल हम भारतीय जबरदस्त पाखंडों में जीते हैं। व्यंग्य की स्थिति तो यह है कि यह सारा समाज ही कार्टून बना हुआ है और हास्य का मामला इस सीमा तक हास्यास्पद है कि उसकी दुनिया में कोई दूसरी मिसाल नहीं मिल सकती। जो समाज खुलकर एक चेहरे को नहीं अपना सकता—हर क्षण गिरगिट की तरह रंग बदलता है—उसको क्या कहा जाए। अब तुम यही देखो कि एक युवती प्यार किसी को करती है और विवाह किसी और से करती है। युवक प्यार की पीग किसी के साथ बढ़ाता है और दुनियावी सुख-सुविधाओं तथा कैरियर के लिए शादी किसी अन्य के साथ रचाता है। ऐसी स्थिति में न कोई अपने प्रति ईमानदार रह पाता है न दूसरे के प्रति। यूरोप में लाख बुराईया सही लेकिन कम से कम यह ठकोसला तो नहीं है।”

उर्मिला मुह बिचकाकर बोली—“बस यूरोप की बात तो आप रहने ही दो। वहाँ तो हर रोज लिबास बदलने की तरह तलाक हो रहे हैं। मिया बीमार होकर अस्पताल में पड़ा है और पत्नी किसी और की बाहों में बेहोश पड़ी है। वह इसी आशका को लेकर पति को तलाक दे देती है कि उसे जो बीमारी है उसकी छूत से उसका स्वयं का जीवन जोखिम में पड़ सकता है। क्या इस तरह की जीवन शैली आप यहाँ लागू होते देखना चाहते हैं?”

“नहीं। मैं उस तरह की जीवन पद्धति का तो हामी नहीं हूँ मगर साथ ही मैं इस तरह के आचरण को भी स्पृहणीय नहीं मानता कि पति या पत्नी एक-दूसरे को एक क्षण के लिए भी सहन कर पाने की स्थिति में न हो तब भी जीवन पर्यंत एक-दूसरे को ढोते चले जाएँ। इसमें मुझे कोई बड़ा मूल्य अथवा त्याग या साधना दिखलाई नहीं पड़ती।”

उर्मिला ठुई से बोली—“इसमें फिर भी एक मूल्य तो है।”

मैंने व्यंग्य से हसकर पूछा—“वह कौन-सा महान मूल्य है—जरा मैं भी तो सुनूँ!”

“इसमें स्वयं को मारते चले जाने का मूल्य निहित है। केवल भोग ही तो जीवन नहीं है—उसके लिए कुछ देना भी तो होना चाहिए। जो हमारा देय है उसे बचाकर रखना क्या बेइमानी नहीं है?”

“स्वयं को किसी अपदार्थ के लिए काट काटकर छोटा होते चला जाने से कौन-सी मद्दानता है, मैं समझ नहीं पाता।”

“आप इसे कैसे समझेंगे? आपको कोई कभी किसी विवशता वश छोड़कर चला गया, वस आप उसी को लेकर शहीद होने का गौरव ढोते चले जा रहे हैं और स्वयं को निर्दोष होने की अहम्मन्यता में सर्वथा निर्दोष होने की अनुभूति में अपने कद को उठाते चले जा रहे हैं। कभी आपने सोचा है—जब आप स्वयं को दोष-मुक्त समझकर सांत्वना देते हैं और सुख की नींद सो जाते हैं तो कोई एक आपके प्रति स्वयं को अपराधी समझते हुए जागते-जागते आंखों ही आंखों में पता नहीं कहा पूरी रात काट देती है। बिल्कुल उसी तरह जैसे कोई दुखिया मां अपने बीमार बच्चे को गोद में थपकिया देते दुलराते रात काट देती है।”

मुझसे उर्मिला के ढाहक और दारुण उद्गार सहे नहीं गए। मैं एक विचित्र आवेश में कुर्सी छोड़कर खड़ा हो गया और अवश होकर कमरे में इधर-उधर घूमने लगा। मुझे उस क्षण लगा मैं एकदम भूर्ख-अनाड़ी और अबोध हूं। मैं जो सोचता समझता और लिखता हूं उसका कोई भी अर्थ और आशय नहीं है। एक बहुत ही छोटी उम्र की लड़की मेरी सोच पर एक बहुत बड़ा और गभीर सवालिया निशान लगा रही है।

मैंने अनजाने में ही उर्मिला के सामने खड़े होकर उसकी गहरी आंखों में कुछ पढ़ने की कोशिश की और आगे बढ़कर आवेश में उसके दोनों हाथों को अपनी हथेलियों में कस लिया।

उर्मिला ने अत्यंत शांति और उद्वेगहीन स्थिति में मेरी ओर देखा और अपनी हथेलियों को मेरे करपाश में कस देखकर उसने कोई कसमसाहट व्यक्त नहीं की। कुछ क्षण यो ही बीत जाने पर वह बोली—“लगता है हम दोनों को अलग-अलग समय पर एक-दूसरे की बेहद जरूरत है।”

“क्योंकि हम दोनों जब बिखर उठते हैं तो स्वयं को संभालने में असमर्थ होते हैं और शायद तब हम स्वयं भी नहीं जान पाते कि हम सारी सामर्थ्य और संकल्प के बावजूद कुछ भी नहीं बचाते। एक मिर्गी के मरीज की तरह धड़ाम से गिरकर कहीं भी और कभी भी, अप्रसन्न हो जाते हैं।”

मैंने अपने को निरस्त करते हुए उर्मिला से पूछा—“क्या इस दुनिया में सभी

ऐसे नहीं हाते हैं।

उसने मेरी कसी मुड़ियो में से अपनी हथेलियों को मुक्त करने की कामना दर्शाते हुए कहा—“पता नहीं! मैं जब अपने बारे में ही कुछ नहीं जानती तो औरों के विषय में क्या बता सकती हूँ?”

“अपने बारे में तो कोई भी नहीं जानता। कुछ है जो निरंतर अपना आविष्कार करते चले जाते हैं और दुर्बलता को निर्ममता से निरस्त करते चलते हैं—अधिकांश को तो यह पता ही नहीं होता है वह क्यों है और क्या है।”

उर्मिला बोली—“दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि थोड़े से ही ऐसे मनुष्य होते हैं जो ‘ग्रो’ करते हैं जिनका निरंतर विकास होता चलता है बाकी तो एक बंधी-बंधाई लीक पर ठरने की जिदगी जीते चले जाते हैं।”

“इसीलिए तो यह दुनिया बहुत ठंडी ठहरी हुई और ऊबाऊ लगने लगती है अक्सर नई सोच, नया विचार और उससे सृजित होने वाला सौंदर्य तथा काव्य कुछ क्षण मात्र के लिए ही यदा-कदा दीख पड़ता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हम लोगों से जब भी मिलते हैं या बातें करते हैं तो यह नहीं लगता कि उन्होंने कोई नया विचार या कल्पना अथवा सोच दिया है। बस यही लगता है, उन्होंने वही सब कुछ कहा है जो बहुत बार इधर-उधर दोहराया जा चुका है। या वह जब पहले मिले थे तो लगभग वही कुछ कहा सुना था जो दूसरी-तीसरी या कई मुलाकातों में कहते हैं। प्रायः मुलाकातें मन को तृप्ति या सतोष नहीं देती—उनसे कोई ताजगी नहीं मिलती बस बातों के नाम पर सतही किस्म की सूचनाएँ मिलती हैं।”

उर्मिला बोली—“लोग तो सब कहीं एक जैसे ही हैं, थोड़े-बहुत अंतर से। वही ठरने की जिदगी है उसमें नया क्या होगा। हम मनुष्य तो गंदगी ही उत्पन्न कर सकते हैं। भोग का परिणाम कूड़ा-कचरा बनकर ही तो सामने आता है। जितना अधिक भोग उतनी ही अधिक मलिनता। इस अर्थ में तो पशु-पक्षी मनुष्यों से अधिक स्वच्छ हैं—कम से कम प्रदूषण तो नहीं फैलाते। हम तो तन-मन सबसे ही कदर्य हैं।”

“तुम्हारी बात के पक्ष में कितनी ही बातें हैं। पहली तो यही कि हमारी भारतीय संस्कृति में उपभोग को उपयोगिता से अलग करके नहीं देखा जाता। जो उपयोगी न बन सके। उसका भोग व्यर्थता का सूचक है। लोग कम से कम वस्तुओं से काम चलाकर दृढ़हीन जीवन जीने के आकांक्षी होते हैं। हम कालांतर में इस बात को विस्मृत कर बैठे। यही कारण है कि आज हम तरह-तरह के सघर्षों और महाभारत में फंसे हुए हैं। तन रोगी और मन अशांत है। वास्तविक कारण तो समझने का प्रयास नहीं करते। कभी धर्म की शरण में जाते हैं तो कभी तरह-तरह के पांखड़ियों

का पल्ला-पकड़ते हैं। इससे क्या होने वाला है। बढते हुए भोग से यह व्याधिया अभी तो और बढेंगी।”

मैं कई मिनट तक उर्मिला की गहरी मनस्विता पर विचार करता रहा। उसके चेहरे मोहरें पर अभी तक कच्चापन शेष था पर उसके विचारों में गहरे मनोमंथन की लाक्षणिकता थी।

मैं मुस्कराकर बोला—“तुम्हारे विचारों के अनुसार तो पंडित मुकुंद माधव भोग और उपयोगिता में सामंजस्य रखने वाले सर्वोपरि उदाहरण हैं।”

“भोग और निषेध में अंतर है। निषेध कई बार कोई मूल्य बनने के बजाय पाखंड में भी बदल जाता है। हम कम खाते हैं, कम बोलते हैं, कम लेते हैं। यह एक सहज और स्पृहणीय बात है मगर हमें इस पर गर्व करके दूसरों को—जो ऐसा नहीं कर पाते—उन्हें तुच्छ मानने का तो कोई कारण नहीं बनता। यदि मैं ईमानदार, निष्ठावान संकल्पशील हू तो यह किसी दूसरे का लाभ बाढ़ में होगा—मेरा लाभ ही सर्वप्रथम है। अच्छा होना स्वयं के लिए सर्वाधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण है। हम अपने अच्छे होने को दूसरों के सिर पर लादने लगते हैं तो वह कोई धनात्मक मूल्य नहीं रह जाता।”

भोग और उपयोगिता को लेकर संदर्भ चाहे उर्मिला के पति पंडित मुकुंद माधव का ही था पर वह जो बातें कह रही थी उसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष कितना था, इसका मैं अनुमान उस समय नहीं लगा सकता था। पता नहीं वह एक सामान्य बात कह रही या कि केंद्र में मुकुंद माधव ही लक्ष्य थे।

दीवार घड़ी पर मेरी निगाह गई तो मैं बोला—“तुम्हारे मुंह से इतनी सारगर्भित बातें निकल रही थीं कि मैं तो देश-काल, समय सभी कुछ भूल गया। साढ़े पांच से ऊपर हो रहा है। चलो, जल्दी-जल्दी कपड़े बदलो—फिल्म देखने चलना है। पंडित जी आ गए होते तो उन्हें भी साथ ले चलते।”

“क्या वाकई आपने पक्का इरादा बना लिया है कि आज फिल्म जरूर से देखनी है।”

“तुम्हारे साथ जाने का लोभ है, वैसे तो कहां फिल्म देखने का मौका मिलता है!”

“मेरे साथ की ही बात है तो फिर चली चलती हूं। वहां फिल्म देखने के लिए कोई साथ नहीं दे सकता इसलिए फिल्में देखने का मन ही मर गया है एक तरह से।”

“मर मर गए शरीर’ की बात तो मैं सुनता आया हूं ‘आशा-तृष्णा’, तो मन की ही वृत्तियां हैं—इनके मरने की बात तो वैरागियों संन्यासियों ने भी नहीं कही।

कई बार हमें वस ऐसा लगता ही है कि मन मर गया है पर वास्तव में मर जाने के बावजूद पूर्ण जीवित बना रहता है। कवि ने इस प्रसंग में एक बड़ी पंक्ति की बात कही है।

कभी न मिलने की कहकर
आया मेरी कायरता थी
फिर-फिर छलना ने दूँदे
नये-नये सगी साथी

“आप कविता में अपनी बात कहते हैं—स्वयं को छिपाए रखने के लिए। किसी और के काज से अपनी बातें कहना कवियों लेखकों के लिए ही संभव है। हम साधारण लोग तो यह सब कुछ नहीं जानते। जब जो जैसा लगता है उसी को उल्टा-सीधा कह डालते हैं।” जरा देर ठहरकर उसने घड़ी पर नज़र डालकर कहा—“अगर वास्तव में फिल्म देखने की बात है तो आप जल्दी से तैयार हो जाइए अन्यथा फिल्म नहीं मिल पाएगी।”

मुझे तो तीन मिनट लगते हैं, कुरता-पायजामा बदलने में। हाँ, आपको साड़ी-वाड़ी बदलने में समय लग सकता है।”

उसने मेरी ओर निगाह डालकर पूछा—“जो साड़ी पहने हूँ उसी को पहने चलू तो क्या हर्ज है? यहाँ मुझे कौन जानता है? आज सुबह ही तो पहनी है। बस हाथ-मुँह धो लेती हूँ।”

“साड़ी तो आपकी अच्छी-भली है पर हाथ मुँह धो लेने के बाद भी ऐसी ही बनी रहे तब बात है।”

“कौन सिंगार पटार करना है—बस नाम भर को दो चुल्लू पानी चेहरे पर छिड़कना है।”

“चलो तो फिर मुँह चुपड़कर क्रीम, पावडर-वावडर लगाओ मैं कुरता बदलकर आता हूँ।”

उर्मिला वाशबेसिन के सामने जाकर खड़ी हो गई तो मैं भी कपड़े बदलने चला गया।

उर्मिला मुझसे पहले ही तैयार हो गई। मैंने देखा उसने क्रीम, पावडर हाँथों पर लाली वगैरह कुछ नहीं लगाया था बस कंधे से अपने बालों को संवारकर उन्हें एक रिबन से बांध लिया था। उसके मुख पर सहजता का उल्लास था जो उसे विशेष आकर्षण प्रदान कर रहा था।

जब हम दोनों घर से बाहर निकलने लगे तो जोखन दौड़ता-सा आया और

“...आप
करके क
हैं? मस्ति
कि जो
लेकर अ
हर क्रिय
कोई लार
पर वह
इसमें ला
है।...

लेखक ने
और विड
समग्रता से
समझ के
खाई को
अंकित कि
समर्पण उ
किस प्रकार
किया है,
लिए गहरी
एक ऐसा
पाटने में
विलक्षण द
से आपूर्ति
को दृष्टि :

पूछन लगा— रस कू का खानो बनानो है

उर्मिला बोली—“जोखन भैया जो जी मे आवे बना लेना। ज्यादा चक्कर मे मत पडना। चाहो तो मूंग की दाल की खिचड़ी ही बना लेना। बहुत खटारा मत फैलाना।”

जोखन लौट गया तो हम दोनों आगे बढ़े। गली का मोड़ पार करते ही रिक्शा मिल गया तो मैंने पूछा—“बोलो कहा चलना है?”

“कहीं भी। जो भी हाल पास हो, उसी मे देख लेते है। मेरे लिए तो सारी पिक्चरें एक समान है। बाकी आपका मन है।”

मैंने कहा—“तो फिर ‘आविष्कार’ ही देख लीजिए। हाल भी ज्यादा दूर नहीं है। सबसे अच्छी बात यह है कि अभी नया बना है—सीटें ज्यादा टूटी नहीं है और आवाज भी ठीक सुनाई पडती है। बाकी हालो का बुरा हाल है—किसी का फर्नीचर माशाअल्लाह है तो किसी की आवाज चाँपट है। अब पात्रो के मुंह से निकला डायलाग ही पल्ले न पड़े तो सिवाय चलती-फिरती तस्वीरों के मुह देखने के अलावा और क्या हासिल?”

“ठीक है, वही चलिए।” कहकर उसने मुझे रिक्शे मे बैठने का संकेत किया। रिक्शे पर बैठते हुए मैं बोला—“अब इसमे ‘पहले आप’ कहने की क्या औपचारिकता निभाऊ।”

वह मेरी वगल मे बैठते हुए बोली—“यहां के रिक्शे बहुत छोटे हैं।”

“रिस्का तो वैसा छोटा ना हतै, न्यौर्ड लग रयो है आपकू” कहते हुए रिक्शा चालक ने हाथों में अटकी बीड़ी एक ओर फेंक दी और पैडिल पर पाव रखकर रिक्शा मोड़ने लगा।

‘आविष्कार’ फिल्म में ज्यादा भीड़-भाड़ नहीं थी। वालकोंनी की अधिकांश सीटें तो खाली ही पड़ी थी। मैं और उर्मिला पीछे की ओर बैठे। हमसे थोड़ा हटकर एक जोड़ा, मेरा खयाल है पति-पत्नी ही होंगे बैठा था।

फिल्म का नायक और नायिका यों तो एक-दूसरे को भीतर ही भीतर बहुत चाहते हैं और परस्पर एक-दूसरे का खूब आदर भी करते हैं पर दोनों के बीच प्यार की ऊष्मा खुलकर उजागर नहीं होती और उनके संबंधों में दरार न सही पर टडेपन का तो जैसे कोई अंत ही नहीं है। किसी तीसरे की उपस्थिति ही उन्हें सवाद के स्तर पर जोड़ पाती है।

फिल्म बहुत बारीक और गहरी स्थितियों से भरपूर थी। उर्मिला बहुत ध्यान से फिल्म देख रही थी कि तभी हमसे थोड़ा दूर बैठे आदमी ने अपनी पत्नी से कहा—“ऐसी फिल्म देखनी हो तो साथ में एक तकिया भी लेकर आना चाहिए, जिससे कि सिर के नीचे लगाकर मजे से दो घंटे सो भी लिया जाय।”

उर्मिला ने उधर आंखें फेरकर उस भद्र दिखाई पड़ने वाले सज्जन को देखा और फिर मेरी ओर देखकर मुस्करा दी।

फिल्म देखकर हम हाल से बाहर निकले तो मैंने उर्मिला से कहा—“यहां पास में बहुत अच्छी आइसक्रीम मिलती है। चलो आइसक्रीम खाते चलें।”

“आइस तो फिल्म में ही बहुत खा ली। क्या अब भी बर्फ की जरूरत बाकी रह गई है?”

मैंने कहा—“हां वो तो है।” फिर कुछ कदम चलकर मैंने पूछा—“क्या तुम्हें फिल्म ने बोर किया?”

“बोर करने की तो उसमें गुंजाइश ही नहीं थी। मैंने तो पूरी फिल्म इस तरह

से दखी जैसे कोई उपन्यास पढ़ रही हाऊ।”

“तो चलो फिर मुझे संतोष है कि मैंने तुम्हारा इतना समय फालतू में बर्बाद नहीं किया।”

“मेरा समय तो व्यर्थ नहीं हुआ पर हमारे पड़ोसी दर्शकों को तो फिल्म ने बहुत निराश किया।”

“जाहिर है लोग फिल्म मनोरंजन की दृष्टि से देखने आते हैं—संबंधों की बारीकी और उनके पीछे की गहरी उलझनों से उन्हें क्या हासिल? फिर खाते-पीते सद्गृहस्थों के जीवन में इस तरह की दरारे कहा होती हैं? वह तो ढर्रेवाली एक स्थूल जिवगी ही जीते हैं। देह के स्तर पर जीनेवाले लाखों करोड़ों लोगों के सामने खाने, कमाने और घर-गृहस्थी चलाने की ही चिंताएँ कम नहीं होतीं कि वह सूक्ष्म स्थितियों में गहरे उतरने की सिरमारी करते रहें।”

उर्मिला बोली—“तब भी जो कुछ फिल्म में प्रदर्शित किया गया था, एक बड़ा सच तो था ही।”

मैं हंसते हुए बोला—“बड़े सच का आविष्कार करते हुए हम सिनेमा हाल से काफी आगे बढ़ आए हैं—क्या घर तक पैदल प्यादे ही चलना है?”

“क्या हर्ज है? अब तो वैसे भी रात हो गई है। थोड़ी दूर तो है ही, यो ही घूमते-घूमते पंद्रह बीस मिनट में पहुंच जाएंगे।”

“यही सही” कहकर हम सड़क के किनारे हो लिए।

उर्मिला ने चलते-चलते पूछा—“आपको इस तरह पैदल चलते हुए थकान तो नहीं होगी?”

उसके प्रश्न पर मैं ठठाकर हस पड़ा और बोला—“थकान और वह भी पैदल चलते हुए? मैं तो मीलों पाँव प्यादे घूमता रहता हूँ। शहर के सारे रिक्शे वाले मेरे इस स्वभाव से परिचित हैं। उनमें से ही कभी कोई यह सोचकर कि शायद मैं चलते-चलते घिस न जाऊँ दया करके मेरे नजदीक आकर रिक्शा रोक लेता है और कह देता है—‘आओ बाबू जी आपको पहुंचा दूँ।’ बस उसकी अवमानना या इनकार मुझसे नहीं हो पाता। चुपचाप उसके रिक्शे पर बैठ जाता हूँ।”

मेरी बात सुनकर उर्मिला भी हंस दी और बोली—“क्या रिक्शे वालों से भाड़ा तय नहीं करते?”

“नहीं तो—क्यों?”

“वैसे ही पूछ लिया। क्योंकि मैंने अक्सर यही देखा है कि ज्यादातर लोग तो रिक्शा चालकों को अठन्नी कम किराया देने के लिए देर तक भगजमारी करते चले

जाते हैं। यह बात अलग है कि उस रिक्शेवाले की अठन्नी बचाकर उन्हें बचत का भारी सतोष मिलता है फिर चाहे डॉक्टर के क्लीनिक पर पहुँचकर पता लगे कि उसने अपनी फीस बीस रुपया बढ़ा दी है। वहाँ वह चुँ तक नहीं कर सकते। डॉक्टर जो भी मागे वटुए से निकालकर चुपचाप दे देते हैं।”

“इसकी वजह बहुत साफ है। हमारे यहाँ श्रम की महत्ता नहीं है। श्रम करने वाले का हम आदर करना नहीं जानते। उसे छोटा और अत्यंत दीन-हीन मामूली आदमी खयाल करते हैं। हमारे यहाँ जो आदमी जितना कम काम करके अधिक धन कमाता है। वह हमारी श्रद्धा का पात्र है। यूनिवर्सिटी में जो प्रोफेसर सप्ताह में सिर्फ पाँच दिन अध्यापन करता है उसे इतनी मोटी तनखा मिलनी है कि वह कार रख सकता है—बंगला अफोर्ड कर सकता है, मगर प्राइमरी स्कूल का मास्टर जो सुबह से शाम तक बच्चों से मगजमारी करता है उसे इतनी भी पगार मयस्सर नहीं है कि वह अपने बच्चों को मामूली खाना और कपड़ा भी मुहैया कर सके।”

उर्मिला ने बड़े भोलेपन से पूछा—“मगर यह शोषण कब खत्म होगा?”

“जब तक हम गुलाम रहेगे, तब तक यह अन्याय कैसे समाप्त हो सकता है?”

उसने अपना चेहरा मेरी ओर उठाकर हैरत से देखा और बोली—“गुलाम रहेगे? इतने वर्षों की आजादी के बाद भी अभी तक आप देश को गुलाम कहते हैं।”

“मैं देश की नहीं देशवासियों की बात कह रहा हूँ। देश तो एक भौगोलिक सीमाओं की सच्चाई होता है, उसे क्या करना है? पृथ्वी, आकाश वनस्पति नदियाँ-पहाड़ समुद्र पशु-पक्षी ही तो देश नहीं हो जाता। देश तो मनुष्यों से बनता है। विदेशी शासन समाप्त हो गया पर क्या आज भी सारा कारोबार उसी पुरानी शैली में नहीं चल रहा है? वही कानून है, वही प्रशासन है, वही पद गरिमा, घमंड और अलकरण है। खाना-लिबास भाषा भी हम नहीं बदल पाए। जब तक यह नहीं बदल जाता हमारा मौलिक क्या प्रतिष्ठापित हो पाएगा। पहले की अपेक्षा हम विदेशी दासत्व को और भी अधिक मजबूत बनाते जा रहे हैं और दुःख तो इस बात का है कि हम उच्छिष्ट को लेकर फूले नहीं समाते बल्कि गौरवान्वित अनुभव करते हैं।”

बातें करते करते जब हम गली के मोड़ पर आ गए तो उर्मिला बोली—“बातों में रास्ते का कुछ भी पता नहीं चला।”

मैं हसकर बोला—“अपने लिए नहीं तुम्हारे लिए ही कह रहा हूँ कि जब साथ चलने वाला तुम्हारे जैसा हो तो लंबा रास्ता भी आसान हो जाता है।”

“धन्यवाद। कोई तो यह कहने वाला मिला। मैंने तो यह सुनने की आशा

हा फव का लाड दा था।

“इतनी जल्दी भाशा छोड़ने का स्वभाव अच्छा नहीं है। स्थितियों में परिवर्तन तो गुण धर्म है। कभी भी कोई स्थिति यथावत् रह नहीं सकती। समय को यथास्थिति स्वीकार नहीं है—कदम आगे बढ़ेगा या पीछे हटेगा पर समय का पड़िया निरंतर अग्रगामी ही होगा।”

उर्मिला बोली—“इतिहास स्वयं को दोहराता है—कहा तो यही जाता है।”

“इससे भी समय को क्या अंतर पड़ता है? भिन्न स्थितियों में इतिहास भले ही दोहराया जाए पर उसकी परिणति और परिणाम वही नहीं होगा। नायक और उनकी भूमिकाएँ बदल जाएंगी। पूँजीवाद का क्या आज वही पुराना स्वरूप और स्वभाव है? आज साम्राज्यवादो पूँजीवाद का चरित्र देखो, अपने पुराने चरित्र से वह कितना अलग है। उनकी नृशंसता और क्रूरता काफी कुछ बदली हुई है। पुराना पूँजीवाद कला और सगति को क्या उसी तरह बाजार बना पाया था जैसा कि आज के पूँजीवाद ने बना डाला है। स्त्री की कोमलता और सुंदरता को क्या उसी तरह बाजार में नहीं बेचा जा रहा है जैसे साबुन, तेल और फिनायल को। आज सारी चेतनता को वस्तुओं में बदलकर उस पर ब्रांड का लेबिल लगा हुआ है। क्या कुछ ऐसा बाकी बच गया है जिसे बाजार न दे दिया गया हो या अगले दिनों में नहीं दे दिया जाएगा।”

“स्थिति काफी संकट पूर्ण है” कहते हुए उर्मिला ने दरवाजे पर दस्तक दी।

मैं यह देखकर चकित रह गया कि किवाड जोखन ने नहीं बल्कि पंडित मुकुंद माधव ने खोले। मेरे मुँह से निकला—“अरे पंडित जी आप? कितनी देर हो गई आप हुए?”

उर्मिला द्वार खुलते ही सहन पार करके कमरे में चली गई थी।

मैं मुकुंद माधव जी के साथ बातें करते हुए सहन में आ गया। जोखन ने वहाँ दो मूठे और कुर्सियाँ रख दी थीं। मैं और वह मूठों पर बैठ गए तो उन्होंने कहना शुरू किया—“किताबों की दुकानों और अमेरिकन लाइब्रेरी का चक्कर तो लगा आया। यूनिवर्सिटी जाकर पता लगा कि सेमिनार तो अगस्त के लिए स्थगित हो गई है। उन्होंने मुझे जो सूचना भेजी थी हमारे चलने तक नहीं मिल पाई इसलिए अब तो दिल्ली जाना व्यर्थ ही है। कल यहीं से वापस लौट जाएंगे। इतने घुरे मौसम में घर से बाहर निकलकर मुझे तो पछतावा ही हो रहा है।”

मैंने उन्हें तसल्ली देने के खयाल से कहा—“अरे पंडित जी ऐसी भी क्या बात है कि जो आप इतने उखड़ गए। कल आप कैसे लौट जाएंगे? कल आए और कल

चल जाणगे भला ऐसा भी कभी होता है। दो-चार रोज तो कम से कम यहाँ रहिए ही। अभी तो आपसे हमारी कोई बातचीत भी ढग से नहीं हो पाई। आप जैसे प्रकांड विद्वान् का हमको ससर्ग लाभ न मिले, यह कैसे हो सकता है। फिर अभी तो आप दोना के ही कॉलिज बंद हैं—घर में भी, आप लोगों की अनुपस्थिति में कोई सकट अनुभव करने वाला वहाँ नहीं है।”

“हा यह तो ठीक है कि वहाँ कोई हमारी अनुपस्थिति अनुभव करने वाला नहीं है पर मैं मोचता हूँ आप पर अनावश्यक भार क्यों डाला जाए। आप भी लिखने-पढ़ने का काम करते हैं—वही आपकी आजीविका भी है। हम लोगों के यहाँ बने रहने पर आपके पठन-पाठन लेखन में व्याघात ही होगा।”

मैं बोला—“आप ऐसा क्यों सोचते हैं? क्या मैं हर समय लिखता-पढ़ता हूँ। लिखने का काम कोई यात्रिक ढग का तो है नहीं। मन होता है तो कई-कई दिन लिखना जारी रहता है—नहीं तो हफ्तो निकल जाते हैं। मैं एक शब्द भी नहीं लिखता। मेरा अनुरोध है कि आप अभी कुछ दिनों तक यहाँ ठहरें। कल सुबह हम लोग दिल्ली चलेगे। कुछ दर्शनीय स्थानों पर घूम-फिर कर सैर-सपाटा करेंगे और कल रात तक घर लौट आएंगे। आप उर्मिला जी को साथ लेकर आए हैं, क्या उन्हें दिल्ली घुमाना पसंद नहीं करेंगे? वह तो हमेशा आपके साथ आ नहीं पाती होंगी। इतनी दूर की यात्रा का कष्ट झेलकर भी यों ही दिल्ली घूमे बगैर चले जाना चाहते हैं?”

पंडित मुकुंद माधव कुछ देर तक चुप्पी साधे बैठे रहे। शायद वह मेरे अनुरोध पर विचार कर रहे थे।

तभी जोखन बाहर से आया। उसके हाथ में एक बड़ा कटोरा था। मैंने पूछा—“जोखन तुम कहाँ चले गए थे?”

“अजी कंऊँ खास ना गयो हतो। नेक दर्ई (दही) लेन चले गयो थो। मैंने आप लोगन के लैया खिचरी बनाय दर्ई हैं—सूखे आलू भून दये हैं—। पापर-अचार सबको इतजाम पैले ई कद्दओ है। बस, अब आप सब खावे कू बैठो—अबेर है रई हैगी।”

मैंने पंडित मुकुंद माधव से कहा—“उठिए पंडित जी, आज तो आपको खाने के नाम पर खिचड़ी ही मिलेगी।”

जोखन अभी हम लोगों के पास ही खड़ा था। वह बोला—“पंडित जी महाराज कू खिचरी ना भाती होय तो इनके लैया मैं परामठे सेक दऊँ, का देर लगेगी?”

पंडित जी मूढ़े से उठते हुए बोले—“नहीं भाई, जो तुमने बनाया है वही ठीक है। और ज्यादा कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है।” फिर वह जरा दूर चलकर थम गए और उन्होंने मुझसे पूछा—“आपकी आज्ञा हो तो मैं सिर पर दो लोटे पानी

डाल लू। दिल्ली में इधर-उधर टक्करे मारते हुए गर्मी और पसीने से बुरा हाल हो गया है।”

मैं हस पड़ा—“दो लोटे ही क्यों, आप दो बाल्टी पानी से इत्मीनान से स्नान कीजिए।”

पंडित जी कमरे से अपने कपड़े लेने चले गए तो मैं भी अपने कमरे की ओर बढ़ गया।

जब मैं लौटा तो मैंने देखा, उर्मिला सहन में चुपचाप बैठी थी।

मैं बोला—“अरे आप इतनी सुस्त क्यों बैठी हैं। लगता है पिकचर देखकर थक गई हैं।”

“थकने वकने की तो कोई बात ही नहीं है।”

उर्मिला ने अपने पति के संबंध में कोई उत्सुकता व्यक्त नहीं की। उसने यह भी नहीं जानना चाहा कि उनकी आज रात जो दिल्ली में ठहरने की संभावना थी उसका क्या हुआ। वह जिस काम से गए थे उसमें उन्हें क्या सफलता मिली।

मैंने ही बात शुरू की—“आपको पता है कि पंडित जी वजाय कल के आज ही क्यों वापस आ गए?”

उसने कहा—“उनका काम निपट गया होगा तो वापस लौट आए इसमें मेरे जानने की क्या खास बात है!”

मैंने उसके शब्दों से असम्पृक्ति की जो ध्वनि निकलते अनुभव की उससे मुझे लगा, उसे अपने पति के किसी भी क्रिया-कलाप में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह उसमें किसी प्रकार की रुचि नहीं रखती।

मैंने स्वयं ही उसे बतलाया कि सेमिनार स्थगित हो गई है और वह कल ही वापस लौटने की बात कह रहे हैं।

उर्मिला उदास स्वर में बोली—“तो फिर और करना भी क्या है? कल सुबह निकल जाएंगे।” एक क्षण ठहरकर उसने पूछा—“क्या हम लोगों को इधर से कोई ट्रेन मिल जाएगी?”

“दिल्ली से जो ट्रेने चलती हैं उनमें से कुछ इधर होकर भी जाती हैं—वैसे ज्यादा गाड़िया मथुरा की तरफ से निकलती हैं।”

“तो फिर हम लोग दिल्ली से ही गाड़ी पकड़ लेंगे।”

“भई वाह, दिल्ली से गाड़ी क्यों पकड़ोगी? जब इधर से होकर गाड़ी जाती है तो उल्टे बास बरेली को क्यों?”

वह अनासक्त भाव से बोली—“यहां से जाओ, दिल्ली से जाओ, है तो एक

ही बात

“नहीं, एक बात नहीं है। फिर तुम कल कैसे जा सकती हो? अभी तो तुम दिल्ली तक पहुँची भी नहीं हो। मैंने पंडित जी से कहा है कि कल नहीं जाना है। हम सब कल सुबह हल्का नाश्ता करके यहां से निकल चलेंगे और दिल्ली में इधर-उधर थोड़ा घूमे-फिरेगे। एक दो जगह जहाँ बाहर से आने वाले सभी पर्यटक जाते हैं, वहाँ चलेंगे और रात तक वापस लौट आएंगे।”

मैंने देखा कि मेरी बात से उर्मिला की उदासी किसी कदर खड़िन हुई और वह मेरी ओर देखकर बोली—“आपकी बात वह मान लेंगे?”

“न मानने का क्या सवाल है? बल्कि मैं तो यह भी चाहता हूँ कि हम सब लोग हरिद्वार-ऋषिकेश होते हुए एक-दो दिन के लिए मसूरी भी चले। यही तो सीजन है उधर जाने का।”

उर्मिला मुँह बिचकाकर बोली—“अजी राम का नाम लो। वह और मसूरी? कहोगे भी तो वह अपने सतपुड़ा विंध्याचल से अच्छा किस पहाड़ को मानेंगे।”

“विंध्याचल-सतपुड़ा और नर्मदा नदी इनकी किसी से क्या तुलना मगर शिवालिक रेंज का भी अपना एक अनूठा आकर्षण है।” फिर मैं हसकर बोला—“तुलसीदास ने तो ‘विध्य के वासी उदासी महा बिन नारी दुखारे, कहकर विंध्याचल को बहुत नीरस करार दे दिया है।”

“उनको विंध्याचल में कोई नारी नहीं मिली होगी दिलजोई करने के लिए।”

मैं उर्मिला की बात पर कोई परिहास पूर्ण टिप्पणी करता इससे पहले ही पंडित जी धोती और खदर की गजी पहने हम दोनों की ओर आते दिखाई पड़े।

मैंने कहा—“आपने स्नान करते हुए तो बहुत कष्ट झेला होगा। रेत से पानी तो उबलता हुआ निकला होगा।”

हां नल का पानी तो गरम ही था पर जो बाल्टियाँ और नादे भरी रखी थीं उनका पानी थोड़ा गनीमत था। नहाने में तो उतना कष्ट नहीं हुआ जितना नहाने के बाद कपड़े पहनने में। बद गुसलखाना भट्ठी जैसा उबल रहा था।”

मैं हंस पड़ा—“यही कारण है कि मैं शाम को गुसलखाने में जाकर नहाने को टाल जाता हूँ।”

“मगर बाहर भी कहा नहाया जा सकता था?”

“अरे हमारे घर में क्या अंदर क्या बाहर, बाथरूम के बाहर जो पटिया पड़ी है मे तो उसी पर बैठकर नहा लेता हूँ।”

पंडित मुकुंद माधव पछतावा-सा व्यक्त करते हुए बोले—“अपने यहाँ तो हम

भा इसा तरह नहा लते ह पर यहा हमे लगा कि यह कहा अशालानता न हा पता होना तो हम भी बाहर बैठकर ही दो लोटा पानी सिर पर डाल लेते ।”

मुझे लगा कि ‘दो लोटा’ उनका तकिया कलाम है । मै बोला—“अजी छोड़िए, जब नहा-धो चुके तो फिर काहे का कष्ट । चलिए अब खाना-पीना कर लिया जाए दस से ऊपर हो चुका है ।”

हम दोनों के पीछे-पीछे उर्मिला भी डाइनिंग टेबिल पर चुपचाप आकर बैठ गई । जोखन ने प्लेटों में थोड़ा-थोड़ा खिचड़ी निकालकर रख दी थी ।” मै जोखन से बोला—“यह क्या ? तुम नहीं जानते कि पंडित जी चीनी की प्लेट में खाना नहीं खाएंगे । स्टील की या पीतल की थाली लेकर आओ ।”

मेरी बात से उर्मिला के चेहरे पर घटा-सी उमड़ी और एक ऐसी ऐंठन का आभास मिला गोया वह विकल और अनुत्पन्न अनुभव कर रही हो । कोई पढ़ा-लिखा प्रोफेसर आज के जमाने में अपने आप को इतना-सा भी एडजस्ट न कर पाए कि खाने के लिए थाली गिलास वगैरह भी वही सब पुराने दिनों जैसे ही हो—यह एक विचित्र-सी बात लगती है और कोई भी आधुनिक पत्नी आतिथेय के सामने इस तरह की शर्त रखना उचित नहीं समझती ।

मैंने उसके मनोभाव को अनदेखा करते हुए कहा—“पता नहीं जोखन महाराज ने कौसी खिचड़ी बनाई होगी ? हम लोग खिचड़ी तो खाते नहीं हैं—हां हारी बीमारी की बात अलग है ।”

पंडित जी बोले—“आप जैसे बुद्धिजीवियों को तो प्रायः खिचड़ी खानी चाहिए ।”

“बुद्धिजीवियों ने ऐसा क्या गुनाह कर डाला कि उनको खिचड़ी खाने की सजा मिलनी ही चाहिए ।”

उर्मिला ने उनकी ओर आखें उठाए बिना ही तुर्शी से पूछा ।

उन्होंने उर्मिला का नोटिस लिये बिना मेरी ओर आंखें उठाते हुए कहा—“आप कवि लेखकगण अदना खयाल तो रख ही नहीं सकते । अपनी धुन में रहते हैं कभी-कभी रात्रि जागरण भी करते ही हैं, ऐसी स्थिति में खाने-पीने में भी अव्यवस्थित रहते हैं । पेट खराब होते रहना स्वाभाविक है । बीच-बीच में गरिष्ठ भोजन छोड़कर खिचड़ी खाते रहने से पेट सभला रहता है ।”

मैंने हसते हुए अपनी सहमति व्यक्त की—“आपने यह तो एक पते की बात कही । मैं बराबर इस बात का खयाल रखूंगा और जोखन को खिचड़ी बनाने के लिए बीच-बीच में हडकाता रहूंगा ।”

पंडित जी मुझे अपनी राय से सहमत देखकर अत्यंत पुलकित हुए और उन्होंने उर्मिला के चेहरे पर एक उड़ती-सी दृष्टि डालकर उत्साहपूर्वक कहा—“इसमें दाने खिचड़ी में चावल कम और दाल अधिक डलवाने चाहिए और कभी-कभी लौकी को कद्दूस में कसबाकर भी डलवा लेना अच्छा रहता है। उससे इसका जायका भी अच्छा हो जाता है।”

मैंने ठठाकर हसते हुए कहा—“अरे पंडित जी आप तो अच्छे-खासे पाक-शास्त्री निकले।”

“अजी पाक-शास्त्री तो क्या, हा जब सस्कृत का विद्यार्थी था तो चूल्हे-चोक से कभी-कभी साबका पड़ जाता था। ज्यादातर बटुक स्वयं पाकी होते थे।” फिर वह अपनी बात कहकर ठठाकर हस पड़े।

मैंने पूछा—“क्या स्वयं पाकी होने के दिनों की कोई ऐसी मनोरंजक घटना याद आ गई कि आपको बेसाखा हंसी आ गई।”

“हां उन दिनों की एक ऐसी ही वेढव-सी घटना याद आ गई जिसे याद करके स्वतः ही हास्य की धारा फूट उठती है।”

“फिर तो हमें भी सुनाइए। हम उस विनोद से वचित क्यों रह जाए।” मैं इसी क्षण उर्मिला का चेहरा देखा। वहां किसी प्रकार की उत्सुकता का भाव नहीं था। वह अपनी प्लेट में खिचड़ी डाल रही थी और सिर झुकाए हुए इस तरह बैठी थी जैसे वहां उसके अतिरिक्त और कोई भी प्राणी न हो।

जोखन स्टील की थाली गिलास चम्मच और कटोरी वगैरह ले आया था। उन्हें पंडित जी के सामने रखते हुए बोला—“मैंने खिचड़ी के लैया हींग जीरा को ठोका लगाय दयो है—कओ तो एक कटोरी मैं आपके लैया औल (और) घी ले आऊ?”

“अरे भाई क्या आवश्यकता है। घी का ठोका तो तुमने लगा ही दिया खिचड़ी में। बाकी दही, अचार, पापड़, आलू का चोखा सभी कुछ तो है।”

मैंने पंडित जी को याद दिलाया कि वह कोई मनोरंजक घटना सुनाने जा रहे थे।

“हा वह बात। मैं मध्यमा की परीक्षा दे रहा था। हम बहुत से विद्यार्थी छात्रावास में ठहरे थे। वहां एक लंबे चौड़े-कक्ष में बहुत से चौके बने हुए थे। चार-चार फीट के अंतर से सीमेट की स्पीड ब्रेकर जैसी ऊंचाई उठाकर सब चौकों को अलग-अलग कर दिया गया था। प्रत्येक चौके में एक मिट्टी का चूल्हा बना हुआ था। वर्तन भाड़े, दाल, चावल, आटा सब कुछ हम परीक्षार्थी अपने घरों से ही सहेजकर ले जाते थे और स्नान-ध्यान के बाद प्रातः काल अपना भोजन स्वयं बना-खाकर परीक्षा देने चले जाते थे। परीक्षा का पहला ही दिन था। मन में धुकधुकी लगी हुई थी। मैं

लब झंझट से बचने के लिए नमकीन पराठे सेंकने की तैयारी की। मैंने देखा कि जितनी देर में दूसरे परीक्षार्थी दाल-रोटी आदि बनाएंगे, मैं खा-पीकर निवृत्त हो लूंगा और जो समय मिलेगा उसमें परीक्षा की तैयारी करता रहूंगा।

“अभी मैंने पहला पराठा सेका भी नहीं था कि सहसा मैंने पाया कि मेरे बर्तनो में चिमटा नहीं है। साथ वाले चौके का घुर-मुंड यज्ञोपवीत से उलझता परीक्षार्थी अपनी खिचड़ी लगभग बना चुका था। चूल्हे में कुछ लकड़िया कम पड़ जाने से वह लकड़िया धो रहा था कि मुझे उसका चिमटा दिखाई पड़ गया। मैंने हाथ बढ़ाकर उसको उठा लिया। बस साहब गजब ही हो गया ‘भ्रष्ट कर दिया—मेरा भोजन नष्ट कर दिया।’ चिल्लाते-चीखते उसने पूरे भोजनालय में कोहराम मचा दिया। उसके भीषण आर्तनाद से वहां अपना-अपना भोजन बनाने वाले परीक्षार्थी एकत्रित हो गए।”

मैंने हंसकर कहा—“यह तो एक तरह से अघटित ही हुआ।”

“बस उसकी तो कोई सीमा ही नहीं रह गई थी।”

मैंने आश्चर्य व्यक्त किया—“पर लकड़ी धोने की बात मुझे विचित्र लगती है।”

“जी हा, आपको अवश्य अचंभा हो रहा होगा पर वहां अधिकांश अध्येता और परीक्षार्थी लकड़ी धोकर ही चूल्हे में डालते थे।”

मैंने चकित होकर पूछा—“फिर वह लकड़िया जलती कैसे होंगी?”

“अजी बस किसी तरह धुआं देते-देते थोड़ी बहुत जल ही जाती थी। कभी-कभी नहीं भी सुलगती थीं तो वह लोग उनपर घी का छिडकाव कर जलाते थे।”

मैंने पूछा—“फिर अंत में क्या निर्णय हुआ?”

“निर्णय क्या होना था। मैंने अपना खाना बनाने का कार्य स्थगित कर दिया। उन महाराज की ‘नष्ट भ्रष्ट’ खिचड़ी लेकर उदर पूर्ति कर ली और दंड स्वरूप उन्हें एक रुपया थमा दिया।”

मैंने पूछा—“पर उनको दोबारा भोजन बनाने में तो काफी समय लग गया होगा।”

पंडित जी बोले—“परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए जाते-जाते तो उनकी खिचड़ी बन ही गई होगी।”

मैं बोला—“उनका जो भी हुआ हो पर आपको तो यह सुविधा वरदान सरीखी लगी होगी।”

मेरी टिप्पणी से पंडित मुकुंद माधव के चेहरे पर परिहास की भंगिमा दिखाई पड़ी और वह शरारती स्वर में बोले—“मेरा वश चलता तो मैं खिचड़ी बन जाने पर उनकी रसोई इसी प्रकार प्रतिदिन ‘भ्रष्ट’ करता रहता पर अगले दिन से उन्होंने मेरे

पड़ोस में खाना बनाना ही बंद कर दिया।”

मैंने देखा, पंडित मुकुंद माधव के चेहरे पर अब किसी प्रकार की ऊब या जड़ता का भाव बाकी नहीं रह गया था और वह परम सहज दिखाई पड़ रहे थे। मुझे पहली बार पता चला कि उनके भीतर सहज उल्लास की कोई कमी नहीं थी। बस उर्मिला और उनके बीच में ही कुछ ऐसा था जो तनाव उत्पन्न करने वाला और संपाद को खंडित करने वाला था।

मैंने पंडित जी के चेहरे से आखें हटाकर उर्मिला की ओर देखा। उसकी दाएं हाथ की कुहनी मेज पर टिकी थी और हथेली पर ठोड़ी रख वह शून्य में कुछ ताक रही थी।

मैं बोला—“उर्मिला जी, खिचड़ी ठंडी क्यों कर रही हैं?” फिर मैंने मुकुंद माधव से कहा—“पंडित जी शुरू कीजिए।”

खाना चलता रहा फिर बीच में कोई नहीं बोला। संभवतः मुकुंद माधव का तो खाने के दौरान कुछ भी न बोलने का नियम ही होगा। संस्कृत के पंडित ऐसा सोचते हैं कि खाना खाते समय बोलने से खाने में पूरा मन नहीं रहता और उससे रस निष्पत्ति में बाधा पड़ती है। लेकिन उर्मिला शायद यह नियम नहीं मानती होगी पर वह बोलती भी तो क्या—क्योंकि उसके पति भी उसकी ओर से वैसे ही उदासीन दिखाई पड़ते जैसी कि वह स्वयं उनके प्रति नजर आती थी।

खाना खत्म करने के बाद उर्मिला और पंडित जी अपने कमरे में सोने चले गए। मेरा खयाल था कि शायद उर्मिला मुझसे बातें करने के लिए थोड़ी देर ठहरेगी। उसके पति न लौटे होते तो संभव था वह सहज और उल्लासित मन से साहित्य, कला अथवा सामान्य बातें ही करती पर मैंने देखा कि उनके वापस लौट आने से उसका व्यवहार एक अपरिचिता जैसा हो गया था। मुझे थोड़ी देर पहले ही वह बातें स्मरण हो आईं जो वह पैदल चलते हुए मुझसे रास्ते भर करती आई थी।

मुझे खाना खाते ही फौरन नींद नहीं आती। हालांकि खाने से फारिग होते-होते ग्यारह बज चुके थे पर अपनी आदत के कारण मैं एक पुस्तक लेकर बिस्तर पर लेट गया। मुझे पता नहीं, मेरी आखें कब नींद से बोझिल हो गईं और मैं गहरी नींद सो गया।

“....अ
करके
हैं? भा
कि जो
लेकर
हर कि
कोई ला
पर वह
इसमें ह
है।...

7

अगली सुबह जब मैं सोकर उठा तो मैंने देखा उर्मिला बाहर बरांडे में मोटे पर बैठी अखबार पढ़ रही थी और उसके सामने तिपाई पर चाय का प्याला रखा था।

लगता था चाय अभी बनी थी क्योंकि प्याले में भाप उठ रही थी और उर्मिला ने उसकी घूंट नहीं भरी थी।

मुझे सामने देखकर उसने अखबार से सिर उठाकर हाथ जोड़ते हुए नमस्कार की। उसके चेहरे पर उस समय कोई खिंचाव अथवा तनाव नहीं था—रात में खाना खाते समय की ऊब भी नहीं थी। मैंने उसकी नमस्कार का उत्तर देकर पूछा—“रात कैसी नींद आई? लगता है कल रात जो काफी पैदल चली थी उससे थकान हो गई होगी।”

“मैं तो खूब बेफिकर होकर सोती हू। पैदल-वैदल से मुझे कोई थकान नहीं होती।”

मैं बोला—“यह तो बड़ी भारी खूबी की बात है। इस तरह से जिन्हे नींद आ जाती है—मुझे उनसे ईर्ष्या होती है।”

वह अखबार एक तरफ सरकाकर बोली—“वैसे तो हम कुछ नहीं हैं मगर चलिए कहीं तो हम भी ईर्ष्या के योग्य हैं ही—चाहे फिर वह पशु प्रवृत्ति सोना ही क्यों न हो।”

‘आप सोने को इतनी हिकारत से क्यों देखती हैं? नींद से बड़ी उपलब्धि अभी तक दुनिया में और कोई नहीं है जिसका उल्लेख किया जा सके।’

वह चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए बोली—“अभी मैंने जूठी नहीं की है—आप पीजिए मैं नहाकर पी लूंगी

लेखक :
और वि
समग्रता
समझ के
खाई को
अंकित
समर्पण
किस प्रव
किया है,
लेए गह
एक ऐस
पाटने में
विलक्षण
से आपूरि
को दृष्टि

चाय पीने की इच्छा नहीं है अभी?”

“इच्छा की बात नहीं है—मैं सोचती हूँ कि नहा-धोकर तैयार हो जाऊँ तो चाय पीऊँ।”

“इतनी जल्दी कहाँ जाने की सोचती हैं?”

उर्मिला ने तुरत कोई उत्तर न देकर मेरी ओर देखा और उसने मुझे इस बात का भी कोई संकेत नहीं दिया कि मैंने ही कल रात उन लोगों को दिल्ली ले जाने की बात कही थी।

वह मोटे से उठते हुए बोली—“जाना कहीं नहीं है मगर तब भी सुबह को नहा-धो लेने में हर्ज ही क्या है।”

मेरी सामने आखे उठीं तो मैंने देखा गुसलखाना बद था। मैंने पूछा—“क्या पंडित जी बाथरूम में है?”

“वह तो बस अब निकलने वाले ही होंगे। देर से स्नानघर में हैं। सुबह नहाने में उन्हें कुछ ज्यादा देर लगती है।”

मैं बोला—“चलिए तब तक आप चाय पीए।”

सामने से जोखन, चाय का प्याला हाथ से पकड़े चला आ रहा था। शायद उसने मुझे वहाँ बैठे देख लिया था और चटपट चाय तैयार कर दी थी।

जब जोखन ने प्याला तिपाई पर रख दिया और देखा कि उर्मिला के सामने रखा प्याला ज्यों का त्यों भरा रखा है तो उसने कहा—“जे का करो आपनने? चाह तो तिहारी न्यों (यों) की न्यों ई धरी है।”

“अभी ठंडी नहीं हुई है जोखन भैया। मैं बस अब पी रही हूँ।”

तिपाई से मैंने चाय का प्याला उठाते हुए जोखन से कहा—“जोखन महाराज! घंटे भर में नाश्ता बना दो, झटापट—हम लोगों को धूप चढ़ने से पहले दिल्ली जाना है।”

“अच्छो जी अबई हाल लेओ। का खाओगे, जे बी मोय बताय देओ तो मैं काम सरू कइऊँ।”

मैंने उर्मिला के चेहरे पर नजर डालते हुए पूछा—“कहिए, क्या खाना पसंद करेंगे आप लोग? रात तो खिचड़ी से ही टरका दिया जोखन महाराज ने।”

जोखन ने मेरा परिहास नहीं समझा। वह दोनों हाथ ऊपर उठाते हुए बोला—“नाय जी मोय दोस न देओ। आलू उबार (उबाल) के धर ई दये हतै हमन्ने तो तुम कैते (कहते) तो परामठे ई सेंक देते सबन के लैया।”

मैं उसे शांत करने की गरज से बोला—“अरे जोखन मैं तो मजाक कर रहा

था। मे क्या जानता नहीं हू कि तुम क्या चीज हो?” मेने फिर उर्मिला से ह पूछा—“बोलिए क्या बनवाया जाय?”

“मेरे लिए तो कुछ भी बनवाने की जरूरत नहीं है।”

“क्या आज के दिन उपवास रखती हो?”

“मैं कभी उपवास नहीं रखती।”

“मैं भी कभी नहीं रखता। जब भी एक-दो बार उपवास रखने की कोशिश की है और दिनों की बनिस्बत उस रोज और भी जल्दी और भी ज्यादा भूख महसूस हुई है। इसीलिए मैंने तो वह सब छोड़ ही दिया।”

पंडित जी गुसलखाने से निकलकर हम लोगों के पास आ खड़े हुए और पूछने लगे—“क्या छोड़ दिया आपने?”

“कुछ खास नहीं—बस यही व्रत उपवास का झमेला।”

“जन्माष्टमी का व्रत तो रखते ही होंगे?”

मैं हसकर बोला—“उस व्रत की तो कोई तुक ही समझ में नहीं आती मुझे।”

पंडित जी चौंके—“ऐसी क्या बात हो गई? हजारों वर्षों से भारतीय हिंदू जनता ही नहीं बल्कि विदेशों में बसे हिंदू भी इस व्रत को रखते हैं। मैंने तो कहीं पढ़ा था कि अब्दुल रहीम खानखाना भी कृष्ण जी के परम भक्त थे और जन्माष्टमी का व्रत रखते थे। अपने महल में बने कृष्णा मंदिर को सजाते थे।”

“जरूर सजाते होंगे लेकिन जो कृष्ण भगवान अर्धरात्रि को पैदा होते हैं उनके लिए भूखा मरने के लिए क्या तर्क हो सकता है।”

“यह तर्क नहीं श्रद्धा और भक्ति का प्रश्न है।” उन्होंने अपनी लंबी चोटी में गांठ बांधते हुए कहा।

मैं बोला—“तब तो सारा किस्सा ही खतम है। जब बात श्रद्धा-भक्ति पर आ अटकती है तो उसे पूर्ण विराम लग जाता है।”

“आप चाहे कुछ कहें, श्रद्धा का उद्भव ही विश्वास की भूमि से होता है। अनास्था की भूमि में श्रद्धा भक्ति का अंकुर कभी नहीं पनप सकता।”

उर्मिला चाय खत्म करके उठी और अपने कमरे की ओर जाते हुए मुझसे बोली—“आप तो शायद अभी नहाने की नहीं सोचते?”

“मैं एक घंटे से पहले क्या नहा पाऊंगा? आप आराम से नहा-धोकर तैयार हो जाएं।”

पंडित मुकुंद माधव भी उर्मिला के पीछे जाते हुए बोले—“मैं उपासना करने जा रहा हूं। आपके घर में कोई मूर्ति या भगवान् की तस्वीर नहीं है?”

मै बोला—“नहीं वैसी कोई मूर्ति नहीं है। हां, कभी-कभी देवो-देवताओं के कलेडर जरूर कोई दे जाता है जिसे जोखन महाराज गाव जाते वक्त साथ ले जाते हैं।”

पंडित जी ने उदारता दिखाई—“चलिए कोई बात नहीं। न सही मूर्ति या तस्वीर, पूजा-उपासना तो मन से होती है वह तो निर्विकल्प है। तुलसीदास जी ने भी कहा है ‘अगुणहीं सगुणही कछु नहीं भेदा।’

पंडित जी पूजा में बैठे तो उर्मिला नहाने चली गई। मै चाय पीते हुए अखबार देखने लगा।

उर्मिला नहाकर लौटी तब तक जोखन ने सब्जी बना ली थी। उसने उर्मिला से पूछा—“भैनजी काहे की दार बनाय दऊं? आप लोगन कू कौन सी दार भावै हतै?”

मैंने कहा—“दाल क्यों बनाते हो भाई? हम लोग इस समय दाल-चावल वगैरह नहीं खाएंगे। नाश्ता करके फौरन निकलना है। तुम दाल-वाल शाम को देखना, इस समय तो सब्जी परांठे बना डालो।”

“चलो तो ऐसेई सई—मोंकू का देर लगे है। अब हाल परामठे सेके देत हू।” फिर उसने हम दोनों की ओर बारी-बारी से देखकर पूछा—“आप लोग खावे कूं त्यार है गए का!”

“नहीं जी! अभी कुछ देर लगेगी। जब खाना होगा, हम बता देंगे।” कहकर मै बाथरूम की ओर चल पड़ा।

मैं नहाकर लौटा तो मैंने पाया कि उर्मिला बरांडे में आदमकद आईने के सामने खड़ी बाल बना रही थी। उसने प्याजी रंग की रेशमी साड़ी पहन रखी थी।

मैंने उसके पास से गुजरते हुए कहा—“हम दोनों पुरुष तो हार गए। आपने बाजी मार ली। आप तो अब तक लगभग तैयार ही हो चुकी हैं। इधर मै और पंडित जी नहाने-धोने और पूजापाठ में उलझे हुए हैं।”

वह अपनी प्रशंसा सुनकर खुशी से मुस्कराई और बोली—“जब कि कहा यही जाता है कि औरतें नहाने-धोने सिंगार-पटार में बहुत समय लगाती हैं।” फिर कुछ पल ठहरकर बोली—“है न यह आप लोगो की उल्टी बात?”

मैं हंसकर बोला—“एकदम! उल्टी से भी उल्टी।”

“वाह जी वाह! यह क्या बात हुई? चित्त भी मेरी पट भी मेरी। उल्टी को उलट देने से तो वह फिर उल्टी कैसे रह जाएगी—सीधी नहीं हो जाएगी?”

“अरे हां!” मैंने आश्चर्य जतलाया। पूजा से निवृत्त होकर तभी पंडित जी हम लोगों के पास आ खड़े हुए।

म बाला— चलिए अब आप कपड़े-वपड़े पहन डालिए । नाश्ता करते ही हम लोग दिल्ली के लिए निकल चलते हैं ।”

“दिल्ली ?” उन्होंने इस अदाज पर कहा जैसे उन्हें कोई सजा दी जा रही हो ।

“दिल्ली जाकर अब क्या करना है ? दिल्ली में तो अब कोई काम ही बाकी नहीं है ।”

मैंने कहा—“काम निकालने से निकलता है । दिल्ली जाकर कुछ सैर-सपाटा करना—एक दो स्थानों को मौज से देख लेना भी एक काम ही है ।”

“अरे छोड़िए जी ! उस अनियंत्रित भीड़ में जाना तो ऐसा ही है जैसे कछुआ बाढ़ में फंस जाए ।”

मैंने उन्हें सहज बनाने के उद्देश्य से कहा—“पंडित जी भीड़ से क्या परहेज ? भीड़-भाड़ से तो हम अब कहीं भी बचकर नहीं रह सकते !”

वह प्रतिवाद करते हुए बोले—“जो हो ! हम तो भीड़ से बहुत घबराते हैं भाई ।”

मैं हसकर बोला—“क्या हम भी कहीं जाकर भीड़ नहीं बन जाते ? क्या भीड़ के डर से आप घर से निकलना छोड़ देंगे ?”

“एक तरह से छोड़ा ही हुआ सा है । जब बिल्कुल ही काम नहीं चलता तभी निकलता हूँ बस ।”

“तो फिर यहां से निकल चलिए, फिर मैं आपको सारे दिन के लिए एक ऐसे स्थान पर छोड़ दूंगा जहां आपको उर्मिला जी के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा ।”

उर्मिला ने अपनी गर्दन को हल्का-सा खम देते हुए मुझे देखा और फिर तैयार होने में लग गई । पंडित ने अपनी निगाह उर्मिला की ओर नहीं फेरी । बस अखबार उठाकर उसमें सिर गड़ा लिया ।

मैंने पति-पत्नी को परस्पर यो अजनबी बनते कभी कहीं नहीं देखा था । मैं निरंतर कोई ऐसा उपाय सोच रहा था जिससे कि उन दोनों के बीच पसरे बोझिलपन को काट फेंकूं । मैं पिछले दिन से ही देखता चला आ रहा था कि पूरे घर में मनहूसियत-सी भर गई है । उपन्यास-कहानियों में तो पति-पत्नी के बीच का तनाव खूब वर्णित मिलता है । पति-पत्नी के बीच की कलह का भी मुझे ज्ञान था ही मगर पुस्तकों से बाहर निकलकर उसे यथार्थ रूप में अभी देख पा रहा था । मैं कुछ तय नहीं कर पाया तो मैंने उठते हुए कहा—“मैं जोखन से मेज पर नाश्ता लगाने को कहता हूँ, आप शीघ्रता से कपड़े-वपड़े पहनिए । ऐसी सुंदर सुबह हमें यही बैठे-बैठे बर्बाद नहीं कर देनी है ।”

मेरे पुरजोर आग्रह पर पंडित जी मोढ़े से उठे और अपने कमरे की ओर चल पड़े पर उनके चेहरे का भाव कतई नहीं बदला। मुझे लगा कि शायद वह दिल्ली जाने के लिए तैयार नहीं होंगे।

जब मुझे पता चल गया कि मुकुंद माधव कमरे में दाखिल हो चुके हैं तो मैंने उर्मिला की ओर मुंह करके धीमे स्वर में कहा—“आप रात सिनेमा देखकर लौटने तक तो अच्छी भली थीं। उसके बाद यह आपको क्या हो गया है जो आप इस तरह तनी हुई हैं? जरा मुस्कराकर तो बताइए।”

उर्मिला ने आईने से नजरें हटाकर माथे पर बल डालते हुए कहा—“मुस्कराऊँ क्या खाक? किसके लिए मुस्कराऊँ, हंसू, बिहसू? उन्होंने उसकी कहीं रत्ती भर भी गुजाइश छोड़ रखी है? अपना काम था तो दिल्ली जाकर धक्के खा आए। अब मुझे साथ लेकर दिल्ली जाना भारी और फिजूल मालूम पड़ रहा है।”

मैंने उसे समझाया—“जब दो जने एक ही नाव पर सवार हों और अलग हो सकने का कोई विकल्प ही सामने न हो तो क्या किया जा सकता है। सिवाय इसके कि जब तक साथ है, परस्पर सहज बनकर रहें।”

मेरी बात सुनकर उर्मिला का चेहरा पहले तो तमतमाकर सख्त हो उठा पर अगले ही क्षण उस पर कातरता उभर आई। वह यह तक भूल गई कि उसके पति पंडित मुकुंद माधव पास के कमरे में ही कपड़े बदल रहे हैं। वह लाग लपेट के उच्च स्वर से बोली—“मेरी किसी के भी साथ रहने की कोई विवशता नहीं है। जिस नाव के पेंदे में छेद हो उसमें कौन रहना चाहेगा?”

“अगर आप तैरने में कुशल नहीं हैं तो आपको उस नाव के डूब जाने तक उसी में रहना होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है। या फिर आपको डूबने से बचाने को कोई तैराक सामने आ जाए।”

उर्मिला ने पलकें झपकाकर मेरी ओर देखा गोया, उसे किसी तैराक के कहीं से सामने आ निकलने की कोई आशा या भरोसा हो। वह धीरे-धीरे कहने लगी—“डूबने की स्थिति तो अंतिम है। वह तुरंत तो नहीं आ जाती। आ जाय तो फिर क्या गम? चलो छुट्टी हो मगर डूबने से पहले भी तो दस तरह की यंत्रणाएं होती हैं। मुझे डूब जाने से कोई डर नहीं है पर मैं यह बीच की यातनाएं बर्दाश्त नहीं कर सकती।”

“आप एकदम से डूब जाने की बात सोचती ही क्यों है? जब किसी भी संयोग से आप किसी से जुड़ जाएं तो फिर साथ निभाने के विकल्प ढूँढ़ने चाहिए न कि उस साथ को निरंतर यातनामय बनाते चले जाने के। ऐसा कोई उपाय जरूर तलाशना चाहिए जिससे कि एक सहज सामान्य जीवन जीया जा सके।”

“जब एक भी बिंदु ऐमा न रह जाए जहा साथ-साथ खड़ा हुआ जा सके तो फिर आप ही बताइए, क्या किया जा सकता है? आप अपने विरुद्ध कहा तक जा सकते हैं?”

मैं बोला—“हम स्वयं को थोड़ा मुक्त छोड़ सकें तो फिर हमे अपने विरुद्ध नहीं जाना पड़ता। हम चीजों को अपने ढंग से चलने देते हैं—उनमे अपनी तरफ से कुछ नहीं घटाते जोड़ते तो स्थिति असहज होने से बच सकती है।”

“मैं मूर्खा हूँ, मैं मनस्वी नहीं हूँ।”

“कोई मनस्वी नहीं होता। मनस्विता भी एक लंबा सफर तय करके मनस्विता बनती है। बड़े ऊहापोहों की दुर्गम घाटियों से गुजरना पड़ता है उसके लिए।”

उर्मिला ने एक बार मेरा चेहरा गौर से देखकर सिर झुका लिया और वह कुछेक क्षण बाद आँड़ने के सामने से हट गई।

मैं सोचने लगा—उर्मिला एक बार पहले मुझसे मिली थी और अब दो दिन से मेरे घर में है। उसमे सहज उल्लास की कोई कमी नहीं है बल्कि एक तरह से वह उच्छल तरंगवती नदी ही है फिर यह अवरोध कहा से आ रहा है? क्या उसकी जीने के प्रति आसक्ति गलत है? वह अपने पति के साथ दिल्ली आई है पर अभी तक वह दिल्ली तक नहीं पहुँची। क्या दिल्ली तक जाकर कुछ देख सुन-लेना कोई बड़ी भारी मांग है या कि वह वर्जित है? वह उस एकांत और संवादहीन स्थान पर लौटने से पहले कुछ क्षण दूसरे ढंग से जी लेना चाहती है—थोड़ा बहुत घूम-फिर कर खरीद लेना चाहती है—क्या इसे एकदम नकार देना चाहिए? उसका पति उसकी इस भावना तक पहुँच ही नहीं पाता है या कि वह जानबूझकर उसकी अवहेलना करना चाहता है, यह समझना मेरे लिए बहुत कठिन था।

वह चाहती तो पंडित मुकुंद माधव को एक ओर करके मेरे साथ दिल्ली उसी प्रकार निकल सकती थी जैसे कि वह मेरे साथ फिल्म देखने निकल गई थी पर शायद उसके संस्कार पति को पूरी तरह उपेक्षित करके एक ओर ढकेल देने वाले नहीं थे। वह पति से एक स्वीकृति और अपना पत्नी होने का गौरव प्राप्त करना चाहती थी जिसकी उपेक्षा कर सकने में वह असमर्थ थी।

मेरे समझाने-बुझाने से वह थोड़ी सभल गई पर मैंने देखा कि उसकी भाव विह्वल आँखों में नमी उभर आई थी। मैं उसे वहीं छोड़कर रसोई की ओर निकल गया और जोखन से मेज पर नाश्ता रखने की बात कहकर लौट आया।

जोखन सब्जी और परांठे मेज पर रख गया। जाते-जाते बोला—“चाह अबई वनी जात है—आप लोग खाना शुरू कइओ।”

मैने आवाज़ लगाई—“पंडित जी, आप क्या कर रहे हैं। आपका भोजन ठंडा हो रहा है।”

कमरे से ही उनकी आवाज़ आई—“अभी एक मिनट में आया।”

जब वह आ गए तो मैने पूछा—“आप चाय तो शायद ही पीए—आपके लिए एक गिलास दूध ठीक रहेगा।”

“छोड़िए दूध ऊध। मैं तो परांटे सब्जी से ही तृप्त हो जाऊंगा।”

जोखन चाय लेकर आया तो मैने एक गिलास दूध लाने को कहकर उर्मिला को बुलाया—“बस अब जो भी करना है बाद में करे—पहले नाश्ता से निपट लो।”

उर्मिला आकर सामने की कुर्सी पर बैठ गई। हम लोगों ने खाना शुरू कर दिया तो मैने कहा—“क्यों पंडित जी कैसा रहे कि हम लोग हरिद्वार-ऋषिकेश का भी एक चक्कर लगा आए।”

“इस बार?”

“और क्या? जब आप लोग इधर आ ही गए हैं तो लगे हाथों गंगा स्नान का पुण्य भी लेते जाइए। फिर न जाने आपका कब आना हो।”

पंडित मुकुंद माधव ने उड़ती-सी नजर सामने बैठी उर्मिला पर डालकर कहा—“इस तैयारी के साथ तो आना नहीं हुआ। हा, अगली दफा हरिद्वार आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा की जा सकती है।”

तभी जोखन दूध का गिलास लेकर आ गया। मुझे यह देखकर खुशी हुई कि जोखन बिना कहे ही उनके लिए दूध ले आया था।

फिर मैने उनसे हरिद्वार चलने का आग्रह नहीं किया और हम लोग चुपचाप नाश्ता करते रहे।

जब हम लोग नाश्ता समाप्त करके उठ रहे थे तो जोखन मेज से बर्तन समेटते हुए पूछने लगा—“का आप लोगन को कहूं जावे को परोगराम बन रयो है?”

मैने कहा—“हां हम सब दिल्ली जा रहे हैं। रात तक लौट आवेंगे।”

वह सकुचाते हुए बोला—“आज मैं गाम जाने की सोच रयो थो।”

मैं क्षणभर उसका मुंह देखता रहा और बोला—“आज ही क्यों? एक दो दिन बाद नही जा सकते?”

“गंगा दसेरा के दिन मोय बालकन के सग गढ गगा जानो थो।”

मैने पूछा—“क्या जेठ का दशहरा जल्दी ही है?”

जोखन के कुछ कहने से पहले ही मुकुंद माधव बोल उठे—“जी हां, परसो जेठ का दशहरा है।”

मे कुछ दर तक सोचता रहा आर बोला तो ठीक ह तुम चले जाओ हम खाने-पीने की कुछ-न-कुछ जुगत कर ही लेगें।”

उर्मिला बोली—“मै हूं न। मेरे रहते आपको कोई और व्यवस्था करने की क्या जरूरत है?” फिर वह जोखन की ओर मुंह घुमाकर बोली—“जोखन भैया आप निश्चित होकर गंगा नहाने जाओ—यहा का काम मै देख लूगी।”

जोखन बर्तन उठाकर चला गया तो हम सब भी उठ गए। मैंने चलते हुए उर्मिला से कहा—“जिस तरह से आपने जोखन को मुक्त कर दिया है, उससे वह बड़ा प्रसन्न हो गया है मगर उसके जाने से आपको परेशानी होगी।”

“काहे की परेशानी? क्या मै वहा घर मे सभी कुछ नहीं करती जो यहा करने से मुझे परेशानी हो जाएगी।”

मैं बोला—“वहां की बात दूसरी है, यहा आप दिन दो दिन के लिए आई है—उसमे भी आपको घर-परिवार की तवालत उठानी पड़े—यह तो कोई बात नहीं हुई।”

मुकुंद माधव दाश बेसिन पर खड़े कुल्ला कर रहे थे। उर्मिला ने उधर देखते हुए कहा—“दो-तीन आदमियों का खाना बनाना भी कोई काम में काम है—मैंने तो इनके यहाँ आठ दस जनों का खाना बरसों तक बनाया है।”

“वो तो ठीक है पर यह बर्तन-भांडे मांजने-धोने का कष्ट खाना बनाने से कहीं ज्यादा है।”

“यहा कितने बर्तन होंगे। कई-कई दिन महरी नागा कर जाती है तो क्या मै घर मे बर्तन साफ नहीं करती?”

मैंने उस प्रसंग को समाप्त करते हुए कहा—“चलिए वह सब बाद में देखेंगे। आप जल्दी से तैयार हो ले। निकलते-निकलते खासी धूप हो जाएगी।”

“मैं एकदम तैयार हूं। बस आप दोनो जब भी चल पड़ेंगे मैं आपके पीछे चल दूंगी।”

मैंने हंसकर कहा—“पीछे नहीं, आप साथ चलेंगी।”

“चलिए वही सही।” कहकर मैं कमरे से अपना झोला और पर्स उठाने चला गया।

जब मैं, पंडित मुकुंद माधव और उर्मिला घर से निकलने जा ही रहे थे तो उन्होंने उर्मिला का चेहरा गौर से देखा और उसके हाथ से उसका छोटा-सा बैग ले लिया।

मैं या उर्मिला कुछ समझ पाते इससे पहले ही उन्होंने बैग की चेन खींचकर उसमें से लिपस्टिक और छोटा-सा गोल आईना निकाला। वह औघड़ ढंग से मुस्कराए और लिपस्टिक तथा आईना उसकी ओर बढ़ाते हुए व्यंग्यपूर्वक बोले—“अपना शहर तो एक गया-गुजरा कस्बा ही है मगर तुम तो वहां भी होंठों पर लिपस्टिक लगाए बिना नहीं निकलती फिर दिल्ली जैसे महानगर और देश की राजधानी में होठ बिना रंग कैसे जा रही हो? लगता है लिपस्टिक लगाते हुए यहाँ कुछ शरम आ रही है! महानगर में ऐसे ही चली जाओगी तो क्या वहाँ की जनता तुम्हें गंवार नहीं समझेगी?”

मैं उनके इस अप्रत्याशित व्यवहार से अवसन्न हो उठा। मुझे लगा मेरे आग्रह को न टाल पाने की स्थिति में ही वह मेरे और उर्मिला के साथ दिल्ली जा रहे थे! उन्हें उर्मिला का मुक्त भाव से साथ चलना पसंद नहीं आ रहा था। पिछली रात वह मेरे साथ अकेली फिल्म देखने गई थी—तब तो उन्होंने उस बात पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी पर अब उनकी व्यंग्योक्ति सुनकर मुझे लगा कि वह उनके मन की देर से स्थगित की हुई ऐठन व्यक्त हो रही थी।

एक क्षण के लिए उर्मिला का चेहरा उतर गया पर अगले ही क्षण उसकी आखों में उद्धत भाव कौंध गया। वह लिपस्टिक और आईना लेकर बरांडे में गई और होंठों पर लिपस्टिक फेरकर लौट आई।

मैं डर रहा था कि कहीं वह लिपस्टिक और आईने को गुस्से से पंडित जी के ऊपर फेंक न मारे पर उसने वैसा नहीं किया। उसका होंठों पर लिपस्टिक लगाना

एक तरह से उनकी अवमानना ही करना था। मुझे उसके इस काम से लगा कि वह अपने पति की कटूक्ति और विद्वेष को आवेश रहित आचरण से पूरी तरह काट गई।

मैंने वातावरण को तनाव से बचाने के लिए उर्मिला की ओर देखा और ताली बजाकर बोला—“यह आपने खूब किया। अच्छे-भले पत्नियों का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह पत्नी के साथ कहीं बाहर जाते समय उन्हें सौंदर्य बोध के प्रति सचेत कर दे।” फिर मैंने उर्मिला के पति महोदय को लक्ष्य करके कहा—“पंडित जी, मैं आपको इस बात के लिए साधुवाद देना चाहता हूँ कि आपने स्वयं अपने हाथों से पत्नी को प्रसाधन के उपकरण सौंप दिए।”

पंडित मुकुंद माधव खिसियानी-सी हंसी हंसते रहे। उनसे कोई बात कहते नहीं बनी।

मेरी ओर देखते हुए उर्मिला मारक ढक से बोली—“तब तो आपको भी इस पुनीत कर्म को करने के लिए कुछ कर डालना चाहिए। ऐसा अवसर हाथ से क्यों जाने दे रहे हैं जब कि आप भी किसी के हाथ में लिपस्टिक और शीशा थमा सकें।”

“मेरे यह करने से आफत खड़ी हो सकती है। यह प्रयोग बवाले जान भी बन सकता है। हो सकता है मेरे यह करने पर प्रतिक्रिया स्वरूप चप्पल या सैंडिलो का इस्तेमाल इस अवसर के लिए उभय पक्ष को अधिक उचित लगे।”

मुकुंद माधव बोले—“वह भी एक अनूठा अनुभव होगा। आप तो लेखक हैं और लेखकों-कवियों को तो नित्य नवीन अनुभव करने ही चाहिए।”

उर्मिला ने अपना आईना और लिपस्टिक अपने बैग के अंदर डालते हुए पूछा—“क्या अब इसी पर ‘डिबेट’ चलती रहेगी या हम लोग आगे बढ़कर घर के बाहर भी निकलेंगे?”

मैंने कहा—“हां-हां, चलिए-चलिए बहुत देर हो गई यह तो।”

घर से बाहर निकलते हुए मैंने जोखन को बुलाकर कहा—“चाभी पनवाड़ी को देते जाना।”

उर्मिला ने पूछा—“पनवाड़ी को ही क्यों? क्या किसी पड़ोसी को कुजी नहीं सौंपी जा सकती?”

“दरअसल रात को कभी-कभी लौटने में देर हो जाती है। वैसी स्थिति में पड़ोसियों को सोते से जगाना मुझे अपराध लगता है। नुक्कड़ का पनवाड़ी रात को बहुत देर तक अपने खोखे पर बना रहता है। इसके अलावा उसका मकान भी खोखे के आस-पास ही है।”

घर से बाहर निकलकर गली में आए तो दर तक कोई रिक्शा दिखाई नहीं

पडा। हम तीनों पैदल ही चलने लगे। पंडित मुकुंद माधव अपने भीतर गुम होकर ही चल रहे थे।

मैने पनवाड़ी के खोखे के पास रुककर कहा—“हम दिल्ली जा रहे हैं। जोखन तुम्हे घर की चाभिया दे जाएगा।”

जब हम आगे निकल गए तो उर्मिला ने साथ चलते-चलते कहा—“कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि आदमी आपकी तरह अकेला कैसे रह लेता है।”

“इतना ही अचभा मुझे इस बात का सोचकर भी होता है कि आदमी निरंतर किसी के साथ कैसे रह लेता है।”

“हा यह तो आप एकदम ठीक कहते हैं। कम-से-कम आपके साथ कोई खिटखिटबाजी करने वाला तो नहीं है। जोखन आपका सब काम ठीक वक्त से कर देता है। घर की सही ढंग से देखभाल करता रहता है और वह आप पर किसी तरह का बोझ भी नहीं डालता।” फिर वह आत्मिक व्यथा से बोली—“अपने साथ जब तक यह जजाल नहीं था तो अपनी नींद सोती जागती थी। क्या रखा है ऐसी घरगिरस्ती में जिसमें आदमी अपने तरीके से कभी भी न जी सके।”

अपनी बात कहकर उर्मिला ने अपने पति की ओर कनखियों से देखा मगर उन्होंने अपनी कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। या तो उन्होंने उर्मिला का आरोप सुना ही नहीं था अथवा वह जानबूझकर उस बात को अनसुना कर देना चाहते थे।

मैने उर्मिला को छेड़ा—“कभी-कभी मेरी बड़ी इच्छा होती है कि मेरी भी किसी से कलह हो। आपने मेहंदी हसन की गाई हुई वह गजल तो जरूर ही सुनी होगी जिसमें वह कहता है ‘दिल को दुखाने के लिए ही आ’।”

उर्मिला ने मेरी ओर कटाक्ष करके कहा—“रहने दीजिए अपनी इस आत्मेच्छा को। इसमें क्या मुश्किल थी आपको? एक नही दस सताने वालियों को ला सकते थे।”

“एक सताने वाली से ही त्राहि-त्राहि करते देखे जाते हैं लोग बाग—आप दस की बातें करती हैं।”

मेरी बात को दर गुज़र करते हुए उर्मिला ने कहा—“पता नहीं इस दुनिया में क्या अधेरगर्दी है कि जिनके पास जो चीजे बिना किसी कोशिश के स्वतः पहुंच जानी चाहिए, पता नहीं वह रास्ते में कहा भटक जाती हैं जबकि एक से एक निकम्मे और अयोग्य उन पर अपनी इजारेदारी जमाकर बैठ जाते हैं।”

मुझे उसके शब्दों को सुनकर अटपटापन महसूस होने लगा। यह तो साफ ही था कि यह सब कुछ वह पंडित मुकुंद माधव को सुनाकर उन्हें जलील करना चाहती

थी। पता नहीं उसका आक्रोश कहा जाकर रुकने वाला था। उर्मिला अपने मन में कोई कांटा, कोई कुटा बुगी तरह फसाए बैठी थी और उसे किसी भी तरह निकालने की कोशिश कर रही थी। वह और मुकुंद माधव रेल की समानांतर पटरियों की तरह साथ-साथ चल रहे थे मगर उनका मेल-मिलाप एक तरह से असंभव ही हो चला था। वह शायद बहुत अधिक कुछ नहीं चाहती थी पर छोटी-सी अनुपलब्धि ही उसे तग कर रही थी।

मैंने मल्लिका का रुख दूसरी ओर मोड़ने के लिए कहा—“अरे, यह तो पैदल चलते-चलते ही हम लोग स्टेशन के नजदीक आ पहुंचे। इसी तरह पैदल चलते रहे तो हम लोग मजे से दिल्ली तक ही जा पहुंचते।

पंडित मुकुंद माधव कुछ बोलने के लिए काफी देर से बेचैन थे। वह बोले—“तो फिर मुश्किल क्या है! यो ही चलते रहिए और दिल्ली जा पहुंचिए।”

“अरे महाराज, इतनी दूर तक चलते-चलते ही आपके पांव थक गए होंगे।”

“अजी हमारे पांव इतनी जल्दी दुखने वाले नहीं हैं। मैं तो गांव देहात का भुच्च देहाती ठहरा। हा कमसिन और मुलायम लोगों की और बात है जो चार कदम चलते ही थकने लगते हैं।” यह कहकर उन्होंने उर्मिला की तरफ देखा।

इसी समय एक रिक्शावाला हमारी बगल से गुजरा तो मैंने उसे रोककर कहा—“क्या स्टेशन चलोगे?”

वह पंडित जी की बात से भनभनाई हुई थी। वह रिक्शा चालक से बोली—“जाओ जी हमें तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है।” फिर मेरी ओर मुड़कर उसने पूछा—“प्रभाकर जी अभी स्टेशन क्या दूर है? हम लोग यों ही बातचीत करते हुए क्या थोड़ी-सी देर में स्टेशन तक नहीं पहुंच जाएंगे?”

मैंने रिक्शा वाले को रुकने के लिए कहा और बोला—“इसी तरह रेंगते हुए चले तो फिर नौ बजे वाली गाड़ी हमें नहीं मिल पाएगी। उसके बाद गाड़ी ग्यारह बजे मिलेगी। अब सोचने का वक्त बिल्कुल नहीं है। बस आप लोग रिक्शा पर बैठ ही जाइए।”

मेरे आग्रह पर उर्मिला रिक्शा पर बैठ गई। मैंने पंडित मुकुंद माधव से उसके साथ बैठने को कहकर एक और रिक्शा लिया और चालक से बोला—“तेजी से चलो। गाड़ी का वक्त हो रहा है। नौ बजे वाली गाड़ी छूटनी नहीं चाहिए।”

मेरा रिक्शा चल पड़ा तो मैंने पीछे मुड़कर देखा। अभी तक उर्मिला के पति रिक्शा पर सवार नहीं हुए थे। शायद उनके भीतर उमड़ते आक्रोश की कोई सीमा नहीं थी और वह उर्मिला की बगल में एक ही रिक्शा पर बैठने को कतई तैयार नहीं थे।

मेने चिल्लाकर कहा पंडित जी जल्दी से रिक्शे पर बटिए वरना गाड़ी नहीं पकड़ पाएंगे।”

मेरे जल्दी मचाने से वह किसी तरह उर्मिला की बगल में बैठ तो गए पर वह पत्थर की तरह सख्त हो गये।

मैं अजीब सी मुश्किल में फंस गया था। मैं उन दोनों के बीच उभरते तनाव को दूर करने की जुगत सोचता रहा। बाहर से दोनों नगी तलवारों की तरह खिंचे हुए थे मगर उनका टकराना लोहे जैसा नहीं बल्कि काच का कांच से टकराने जैसा था—जिसका परिणाम किरच-किरच होकर बिखरना ही था। यह तो मैं पिछले दो दिनों में देख ही चुका था कि वह परस्पर एक-दूसरे से सवाद करने की स्थिति में कतरई नहीं थे। उन दोनों के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का रहना एक तरह से अपरिहार्य था। वह तीसरा व्यक्ति कौन हो सकता था और उनकी असहजता को किम सीमा तक बर्दाश्त कर सकता था?

यह कैसी विचित्र विडबना थी कि पत्नी एक उमंग भरी जिंदगी जीने को लालायित थी और पति को उस तरंग का कोई आभास ही नहीं था। इस विचित्र परिस्थिति का मैं अनजान में साक्षी बन गया था।

मैं रिक्शे में बैठकर सोचने लगा कि वह क्या परिस्थितिया रही होंगी जब उर्मिला का पंडित मुकुंद माधव से विवाह हुआ होगा। हो सकता है उर्मिला के घर की आर्थिक स्थिति अच्छी न रही हो और अनेक विवशताओं के चलते यह विवाह हुआ हो। इस प्रकार के अनमेल विवाह हमारे देश में आए दिन होते ही रहते हैं बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि यहाँ प्रायः ऐसे ही विवाह होते हैं। पति-पत्नी से कहीं मानसिक जुड़ाव और पारस्परिक समझ न बन पाए तो विपर्यय को टाला नहीं जा सकता और कदम-कदम पर विग्रह देखने को मिलता रहता है।

स्टेशन पर पहुँचते ही मैं झपटकर उतरा और रिक्शा चालक को भाड़ा चुकाकर टिकट खिड़की पर जा पहुँचा। मैंने हड़बडाते हुए किसी तरह टिकट खरीदे और मेरी प्रतीक्षा में पुल के पास खड़े पति-पत्नी को साथ लेकर पुल की सीढ़िया चढ़ने लगा।

हम लोगो ने अभी गाड़ी में पाव रखे ही थे कि गाड़ी चल पड़ी। यह गाड़ी नई दिल्ली स्टेशन तक जाती थी और बीच में भी दो-तीन स्टेशनों पर रुकती थी। यो हम तिलक ब्रिज पर भी उतर सकते थे और मिटो ब्रिज पर भी।

पंडित जी सीट पर बैठते हुए बोले—“बड़ी आपा-धापी में गाड़ी पकड़ी। यहाँ महानगरों के जीवन में व्यर्थ की भागदौड़ ही ज्यादा है। अपना वहाँ का जीवन क्रम बहुत शांति से तथा निर्विघ्न चलता है। यहाँ उसका एकदम उल्टा है।

मैं बोला—“इस जीवन की भी अपनी एक शैली तो है ही। भले ही आपको यह न रुचे मगर लाखों मनुष्य तो इसी भागमभाग में जीते हैं।”

“यहाँ रहने वाले भी जीवन की उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम करते हैं, जो हम छोटे नगरों के लोग बिना किसी हड़बोग के शांति से पूरी कर लेते हैं। फिर मेरी समझ में यह नहीं आता कि लोग बंबई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास जैसे बड़े और जनसंकुल नगरों की ओर क्यों दौड़ लगाते हैं।”

मैं बोला—“यहाँ कोई शौक से नहीं आता पंडित जी! जब लोगों को कस्बों और गांवों में जीविका चलाने का न कोई साधन मिलता है न अवसर तभी तो उन्हें महानगरों की ओर दौड़ना पड़ता है। आपको मालूम होगा, कलकत्ता में लगभग एक लाख हथरिक्शा चलाने वाले रिक्शा चालक हैं। उनको मई जून के महीने में तारकोल से पिघलती सड़कों पर नंगे पाव एक से एक भारी सवारी ढोते देखकर दिल दहल उठता है। यह सारे लोग बंगाल और बिहार के देहात से ही आते हैं। यदि उनके लिए गांवों में पेट भरने का कोई साधन हो तो फिर उन्हें महानगरों में इस तरह नारकीय जीवन जीने की क्या आवश्यकता है!”

पंडित को कुछ सोचते हुए पाकर मैंने हंसकर कहा—“आप पति-पत्नी दोनों ही महाभाग हैं कि आप दोनों को छोटे नगर में ही सम्मानजनक पद और पदवी प्राप्त है।”

“हां, यह बात तो आपने ठीक कही। मुझे यदि इस नगर में नौकरी मिलती तो मेरा दम घुट जाता और शायद छोड़कर भागना ही पड़ जाता।”

मैं बोला—“दिल्ली तो देश-विभाजन के बाद ही बेपनाह फैली है। पहले यहाँ जितनी जनसंख्या थी अब लगभग उससे तीस-पैंतीस गुना अधिक होगी।”

वह बोले—“राजधानी का आकर्षण जो ठहरा।”

मैंने कहा—“नहीं वह बात नहीं है। पंजाब से उजड़ने वाले लोगों के लिए दिल्ली और उसके आस-पास के स्थान ही निकट पड़ते थे, इसलिए इधर-उधर फैलने के बजाय वह पहले यहीं आए। फिर यहाँ रोजगार के अवसर भी अन्य स्थानों की बनिस्बत कहीं अधिक थे।”

“पर अब तो सारे महानगर नर्क समान हैं। पता नहीं इनकी सुरसामुखी वृद्धि कहा जाकर रुकेगी।” पंडित जी ने अपनी घनी मूंछों पर उंगली फेरते हुए कहा।

“जनसंख्या का जिस तरह अकगणितीय विस्तार हो रहा है उससे तो यही लगता है कि महानगरों को जनसंख्या की महामारी से कोई निजात मिलने वाली नहीं है।

पंडित जी के चेहरे पर आत्मतुष्टि का भाव उभर आया। वह मुदित भाव से बोले—“हमें तो अपना एम.पी (मध्य प्रदेश) ही भला लगता है जहाँ न किसी किस्म

की भीड़-भाड़ है न अफग-तफरी।” इसके साथ ही उनकी नजर दूसरी ओर मुंह किए बेठी उर्मिला की ओर चली गई। वह उसको इंगित करके बोले—“अब इनके नगर भोपाल को ही लीजिए, दिनोंदिन भीड़ बढ़ती जा रही है। पंद्रह साल पहले वाली बात अब वहा भी नहीं है। भीड़ बढ़ने से किसी भी नगर की अपनी संस्कृति और चरित्र सर्वप्रथम हताहत होते हैं। लखनऊ, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना और दिल्ली जैसे शहरों का जो खास मिजाज, आचार-व्यवहार और बोली बानी अलग से नज़र पड़ जाती थी अब कहां बाकी रह गई है।”

मैं बोला—“यह सब सीमाहीन बढ़ती जनसंख्या का दबाव है।”

पंडित मुकुंद माधव आत्ममुग्धता से बोले—“कम से कम हम लोग तो इस भीड़ बढ़ाने वाले दोष से बचे ही हुए हैं।”

मैंने पूछा—“वह कैसे?” दरअसल मैं यह भूल गया था कि अभी वह निस्संतान हैं।

मुकुंद माधव की बात का उर्मिला पर विचित्र प्रभाव हुआ। उसने पीठ घुमाकर उनकी ओर एक घृणापूर्ण दृष्टि डाली और धीमे स्वर में बोली—“दोष से बचने का श्रेय लेना बड़ा सरल है।”

उर्मिला का आवेशजनित चेहरा देखकर मैं सन्न रह गया। क्या पंडित मुकुंद माधव संतान उत्पन्न करने में अक्षम थे या वह उत्पन्न करना ही नहीं चाहते थे। मेरे लिए सही स्थिति का अनुमान लगाना मुश्किल था।

मैंने मुकुंद माधव से परिहास में कहा—“हम भी आप जैसे ही हैं।”

उर्मिला बोली—“आप हम जैसे नहीं हैं। आपने किसी की जिंदगी खराब नहीं की।”

उर्मिला के प्रहार से पंडित मुकुंद माधव तिलमिला उठे पर उन्होंने मुंह से कुछ नहीं कहा।

मैं भी चुप होकर बैठ रहा क्योंकि बातों में से जो भी बातें निकलतीं उनकी ध्वनि अनर्थकारी ही होती।

इसी समय स्टेशन आ गया। मैंने जल्दी मचाते हुए कहा—“शीघ्रता कीजिए, यहां गाड़ी एक मिनट से ज्यादा नहीं ठहरती।”

“.....
करके
हैं म
कि जं
लेकर
हर त्रि
कोई त
पर व
इसमें
है ।...

लेखक
और वि
समग्रता
समझ व
खाई वं
अंकित
समर्पण
किस प्र
किया है
लिए यह
एक ऐस
पाटने में
विलक्षण
से आपूर्ण
को दृष्टि

9

मिटो ब्रिज स्टेशन से बाहर निकलकर हम तीनों शंकर मार्किट होते हुए सुपर बाजार के सामने जा निकले। मैंने सोचा इन लोगों के साथ दिल्ली की बदहवास दौड़ती बसों में तो चढ़ना आसान नहीं होगा इसलिए टैक्सी कर लेने से ही भीड़-भग्मड़ से बचा जा सकता है।

इसी समय इंडिया गेट की ओर जाने वाली एक बस सुपर बाजार स्टैंड पर आकर ठहर गई।

मैंने पंडित मुकुंद माधव से कहा—“इस बस में कोई खास भीड़ नहीं है—बहुत-सी सीटें खाली पड़ी हैं। अगर आप ठीक समझें तो हम इसी बस पर सवार हो लें।”

पंडित जी के जवाब देने से पहले ही उर्मिला ने जल्दी से कहा—“इसमें किसी से पूछने या राय लेने की क्या जरूरत है फौरन चढ़ लीजिए। टैक्सी में पैसा फूकने का क्या मतलब?”

पंडित जी भी बस की ओर लपकते हुए बोले—“हा-हां चलिए चलिए। बड़े नगरों में तो आमतौर से बसों में ही यात्रा की जाती है। फिर दूसरा चारा भी क्या है बस के अतिरिक्त?”

मैंने बस में चढ़ते-चढ़ते कहा—“चारे की तो यहां कोई कमी नहीं है। एक चारा तो यही है कि नजदीक में ही टैक्सी स्टैंड है। इसके अलावा तिपहिए (आटो) तो सामने से ही धडाधड़ गुजर रहे हैं।”

उर्मिला सबसे पहले बस में चढ़ी थी—वह गलियारे में आगे बढ़ते हुए बोली—“मुझे तो यह बस ही सबसे ठीक लगती है—रुपये दो रुपये में कितना ही घूम लो। टैक्सी में अच्छी खासी रकम टूट जाती होगी।”

आगे की सीटों पर एक 'महिला सीट' पर कोई अधेड़-सी औरत बैठी थी। मैंने उर्मिला से कहा—“मैं और पंडित जी पीछे बैठे जाते हैं, आप उधर आगे जाकर बैठ जाओ।”

उर्मिला हम लोगों से कई सीट आगे बैठी थी। पंडित जी ने अपनी जगह से जरा-सा उचकते हुए उधर देखा और मुझसे बोले—“यहां भी अमेरिका फ्रांस की तर्ज पर बहुमजिला इमारतों का जाल फैल गया है।”

“क्या किया जा सकता है? भारत सरकार आए दिन न जाने कितने नए-नए दफ्तर खोलती चली जाती है आखिर उनको बरकरार रखने के लिए जगह का दरकार तो होगी ही।”

पंडित मुकुंद माधव बाहर की ओर आखे किए इमारतों को देख रहे थे और बीच-बीच में हाथ उठाकर उनके नाम भी पूछते जाते थे।

वह अनजाने ही अपने स्थान से थोड़ा ऊपर उठते थे और यह देख लेते थे कि उर्मिला अपनी सीट पर सही सलामत बैठी है या नहीं।

मैंने परिहास किया—“उर्मिला जी एकदम ठीक बैठी हैं—उन्हें आप पूर्ण सुरक्षित समझिए।”

वह झपटते हुए बोले—“नहीं-नहीं वह बात नहीं है।”

“फिर क्या बात है?” मैंने कहा।

“मैं सोचता था कि अगर वह भी हम लोगों के निकट बैठी होती तो आप उसे भी खास-खास इमारतों के बारे में बताते चलते। वहां तो वह अनजानी ही बैठी रहेगी।”

मुझे मुकुंद माधव की यह बात अच्छी लगी। मुझे महसूस हुआ कि चाहे बाहर से वह उर्मिला से कितने ही खिंचे हुए लगते हों मगर वह निरंतर सोचते उसी के बारे में है। बिल्कुल उसी तरह जैसे एक नास्तिक ईश्वर को लेकर हर वक्त सोचता रहता है फिर भले ही चाहे वह उसके अस्तित्व से इनकार करता हो।

मैंने देखा, उर्मिला भी बार-बार पीछे मुड़कर हमें देख लेती थी। हालांकि यह तय था कि हम उसे छोड़कर जाने वाले नहीं थे और बस से उतरने का दरवाजा भी आगे की ओर ही था पर छोटी जगह से, यहां महानगर में आने पर उसे खोए जाने का डर बराबर बना हुआ था। उसका यह डर अस्वाभाविक भी नहीं था क्योंकि अनजाने शहरों में आने पर किसी भी महिला को असुरक्षा का भय सताता रहता है। संकोच के कारण वह किसी से ज्यादा बातें अथवा पूछताछ भी नहीं कर सकती।

बस खिड़का से लगे बड़े पंडित मुकुंद माधव बातचीत करते और बाहरी दृश्यों के प्रति उत्सुकता जाहिर करते बहुत सहज लग रहे थे। उनकी आंखों में एक सैलानी का उल्लास उमड़ता दिखलाई पड़ रहा था। उन्हें देखकर उस समय कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि वह अपनी पत्नी के साथ व्यवहार करते समय एकदम असहज और ठस्स हो उठते हैं।

आदमी को वातावरण और विसर्गतियों भरे प्रसंग कभी-कभी इतना दूसरा बना देते हैं कि उसके भीतर छिपी मानवीय संवेदनाओं का पता ही नहीं चल पाता। थोड़ी सहजता और वातावरण की जीवतता सबको मुक्त करती है और जिदगी जीने योग्य दिखलाई पड़ने लगती है।

इसी समय हम लोगो से अगली सीट पर बैठी दो महिलाओं में से एक उठी तो मैंने उर्मिला को—जो बीच-बीच में बराबर मुड़-मुड़कर पीछे देख लेती थी—आवाज देकर कहा—“उर्मिला जी यहां सीट खाली है—आप यहीं आ जाइए।”

उर्मिला ने यहां से उठने में झिझक अनुभव की। शायद उसे अपनी सीट से उठकर दूसरी सीट पर आ बैठने में कुछ सकोच हो रहा था कि पता नहीं बस मैं बैठी ओर सवारिया उसके बारे में क्या सोचेंगी। पर दोबारा कहने पर वह उस सीट से उठकर हम लोगो से अगली वाली सीट पर आकर बैठ गई।

उर्मिला के चेहरे पर भीड़ में फस गए बच्चे का-सा एक बेचारगी भरा भाव देखकर मुझे दया आई। मैंने कहा—“क्या बोटिंग करने का मन है। वहां नर्मदा में तो कभी-कभी आप लोग नौका विहार करते ही होंगे।”

पंडित मुकुंद माधव चौकते हुए बोले—“नौका विहार? यहां कोई नदी तो दूर-दूर तक नजर नहीं आती। यमुना तो हम लोग पहले ही बहुत पीछे छोड़ आए हैं।”

मैंने हंसकर कहा—“अभी आप देखेंगे कि यहां इस महानगरी में लोग बिना नदी के भी नौका विहार करते हैं।”

वह विस्मय प्रकट करते हुए बोले—“बिना सर-सरिता झील आदि के कैसे नौका विहार होता होगा प्रभाकर जी?”

“होता है साहब-खूब होता है।” कहकर मैं अपनी सीट से उठा और उन दोनों से बोला—“उठ जाइए, हमें यहीं उतरना है।”

बस इंडिया गेट से थोड़ा इधर ही ठहर गई। उर्मिला और मुकुंद माधव हड़बड़ाते हुए से अपनी सीट से उठे और पिछली ओर जाने लगे। मैंने उन्हें रोकते हुए कहा—“उधर से नहीं हमें आगे के दरवाजे से उतरना होगा—पीछे की तरफ से

सवारिया आ रही है .

सीटों की पुश्तों को रेलिंग की तरह पकड़ते हुए वह उतरने वाली सवारिया के पीछे-पीछे आगे बढ़ने लगे । जब वह दोनों बस से बाहर निकल गए तो मैं भी उतर पड़ा ।

मुकुंद माधव बोले—“यहां तो दूर-दूर तक कोई नाव नज़र नहीं आती । हा, भव्य भवनो का विस्तार तो खूब दीख पड़ता है ।”

मैं मुस्कराते हुए बोला—“तसल्ली रखिए, भवनो के विस्तार के साथ जल विस्तार भी अभी दिखलाई पड़ेगा ।”

वह बोले—“चलिए, देखते हैं यह चमत्कार भी । वैसे राजधानी में तो कागज पर भी नावे चलती हैं ।”

उर्मिला ने बिना उनकी ओर आंखें उठाए कहा—“कागज पर ही क्यों—कागज की नावें भी चलती हैं ।”

“वैल सैड” कहते हुए मैं उनके साथ-साथ चलने लगा । थोड़ी दूर चलते ही मैंने एक-भव्य और विस्तार में फैली इमारत की ओर संकेत करके कहा—“यह देखते हैं—यह ‘कृषि भवन’ है ।”

पंडित जी बोले—“कृषि कर्म करने वालों को तो झोपड़ियां भी मयस्सर नहीं हैं यहां कृषि भवन की स्थापना हो रही है । यही इस देश की विसंगति है जिसके कारण किसी दिशा में भी विकास होता नहीं दीख पड़ता ।”

मैं बोला—“यह आपका यानी दर्शन का विषय है । नाव में बैठकर इस पर गहराई से सोचा जा सकता है ।” फिर मैंने ‘इंडिया गेट’ से सड़क तक आती वह नहरे दिखलाई जहां नावें तैर रही थी और कितने ही तरुण-तरुणियां, बच्चे, बुजुर्ग नावों में बैठे चप्पू चला रहे थे ।

पंडित जी ने उधर आंखें उठाकर देखा और उपेक्षा से बोले—“हे भगवान् ! कैसे बेचारे लोग हैं यहां के जो छटकी भर की नाव लेकर उथले पानी में चप्पू चला रहे हैं ।”

मैं बोला—“असली चीज भूख है, उसे शांत करने के लिए जहां जो भी सबल प्राप्त हो जाए । यहां के निवासी जिंदगी की व्यस्तताओं में इस कदर घिरे रहते हैं कि नदी नाव संयोग देखना उन्हें लंबे वक्त तक नसीब ही नहीं हो पाता । ऐसी स्थिति में मन को भरमाने के लिए यह उथली जलधारा और यही हल्की-फुल्की नावे उन्हें एक बदली हुई—शायद खुश-गवार भी—जिंदगी दे जाती हैं ।”

“यह इन बड़े-बड़े महानगरों की जीवन पद्धति का अभिशाप है ।” पंडित जी

न नाक-सिकाड़कर उपद्रव से कहा ।

मैं आगे बढ़ा तो पंडित जी और उर्मिला दोनों मेरे साथ घास के लान पर चरने लगे ।

उर्मिला ने पूछा—“क्या इतनी हरी और सघन घास यहाँ स्वयं उग आती है?”

मेरे उत्तर देने से पहले ही पंडित जी ने व्यग्य बाण छोड़ा—“यह भी सरकारी उपक्रम है। नैसर्गिक घास न इस तरह उगती है न उसका यह रंग रूप ही होता है।”

मैंने पानी के किनारे पड़ी एक डोगी ली और उसे पानी में उतार दिया । उन दोनों के हाथों में चप्पू देकर कहा—“अब आप नाव खेते हुए दिव्य दाम्पत्य का आनंद ग्रहण करें।”

उर्मिला बोली—“अच्छा तो आप किनारे खड़े आशीर्वाद ही देते रहेंगे । यह नहीं होगा । चप्पू उठाइए और नाव में उतरिये ।”

पंडित जी ने कहा—“नाव में नहीं ‘नाव पर’ उपयुक्त वाक्य है।”

उर्मिला ने माथे पर वल डालते हुए पति की ओर देखा और बोली—“नौका विहार के आनंद में वाक्य की शुद्धि से कोई बढ़ोतरी नहीं होने जा रही है।”

मैंने और उर्मिला ने अपने हाथों में पकड़े हुए चप्पू चलाने शुरू कर दिए । पंडित मुकुंद माधव ने कौतुक भाव से चप्पू को हवा में लहराया और बोले—“यह तो एक छड़ी जितना भी बजनी नहीं लगता । हमने जो लिलिपुटियनों के बारे में कहानी पढ़ी थी— सम्भवतः आज पुनः उसकी पुनरावृत्ति हो रही है।”

मैं बोला—“इसका क्या रोना महाराज ! हमारा युग ही बौनों का है । फिर यह चप्पू भी तो बरमान घाट (नर्मदा नदी का एक प्रसिद्ध घाट) की नावों के लिए नहीं बने हैं । जैसी नदी-वैसी ही नाव और उन्हीं के अनुरूप चप्पू।”

मुकुंद माधव बोले—“हां जी आपका कहना सही है । इन चप्पूओं को चलाने वाले हाथ भी कलम पकड़ने वाले बाबुओं और उनकी नाजुक वीवियों के हैं । वह बेचारे मन-मन भर के चप्पू चला भी कैसे सकते हैं।” यह कहते-कहते सहज ही उनका हाथ मूछों की तरफ चला गया और वह अपनी घनी मूछों पर उगलिया फिराने लगे ।

वह नाव को किनारे ही डगमगाते देखकर बोले—“लगता है यह बेचारी मेरा भार सहन नहीं कर पा रही है।” और फिर विरक्ति दिखाते हुए उन्होंने हाथ में पकड़ा हुआ चप्पू किनारे पर फेंक दिया । वह उठते हुए बोले—“हमसे तो यह खिलवाड़ नहीं होगा—नौका विहार आप दोनों को ही मुबारक।”

वह किनारे पर उतरकर बोले—“ऐसा ही नौका विहार का शौक है तो कभी

मध्य प्रदेश में आइए। हम करागंगे आपको जी भर नौका विहार। हमारे क्षेत्र में नदियों आर जलप्रपातों का जाल बिछा हुआ है। भेडा घाट देखेंगे तो चमत्कृत हो उठेंगे आप। यह नौ आप लोगों का खिलवाड़ ही है एक तरह का। जैसे दीवारों पर हरियाली उगान का हान्यास्पद प्रयास।”

मैंने हसते हुए कहा—“ये क्या? आप संकट के समय हमें छोड़कर जा रहे हैं? इस समय तो हमें आपके जैसे एक सबल सिद्धहस्त नाविक की बेहद दरकार है। फिर यह भी तो सांचिए जरा कि जिंदगी के नाव के चप्पू तो बारी-बारी से पति-पत्नी दोनों को ही चलाने पड़ते हैं।”

लेकिन पंडित मुकुंद माधव की आखों में वही सुबह वाली विरक्ति का भाव फिर उभर आया। वह बनावटी सभ्यता और छिछले मनोरंजनों पर लानते भेजने लगे तथा उनका उपदेशक रूप खूब मुखर हो उठा।

मैंने और उर्मिला ने उस पर कोई ध्यान न देकर अपने-अपने हाथों में पकड़े चप्पू चलाने शुरू कर दिए तो वह पेड़ों की ओर जाते हुए बोले—“मैं उधर लान में बैठता हूँ। आप इस पोखरी में मनोरंजन करें।”

उन्हें लंबे-लंबे डग भरते देखकर मैंने जोर से कहा—“अरे महाराज! आप उधर कहां भागे जा रहे हैं। इधर हमारी नाव डगमगाकर टेढ़ी हुई जा रही है। कम से कम तूफान में तो साथ छोड़कर न जाइए।”

पर उन्होंने जैसे मेरी बात सुनी ही नहीं, बराबर आगे बढ़ते चले गए। लान खूब दूर-दूर तक फैले थे और हर ओर किलने ही छतनार पेड़ उगे थे।

जाहिर था कि पंडित मुकुंद माधव उतनी देर तक तो लौटने वाले थे नहीं, जब तक मैं और उर्मिला नाव पर सवार थे।

मैंने उर्मिला से कहा—“लगता है पंडित जी इस नौका प्रसंग से खिन्न हो उठे हैं। हम भी छोड़ें यह खिलवाड़ और दूसरे दर्शनीय स्थल देखने चलें। उस स्थिति में तो वह हमारे साथ खुशी से चल ही देंगे।”

उर्मिला ने अपने पति की अप्रसन्नता पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह नाव में बैठकर चप्पू चलाते हुए पानी से खिलवाड़ करती रही। इस क्षण वह एक खिलन्दरी किशोरी के समान पुलकित और जीवंत दिखलाई पड़ रही थी। उसके अंगों में ऊभ-चूभ होते उल्लास को देखकर मैं विस्मित रह गया। मैंने पिछले दो दिनों में उसका इतना मनभावन स्वरूप एक बार भी नहीं देखा था—तब भी नहीं जब वह निनमा में मेरी वगल में बैठी थी और हम दोनों के कंधे और हाथ अनायास टकरा जाते थे।

मैंने कहा—“लगता है पंडित जी को इस जगह आना अच्छा नहीं लगा।”

उसने बेपरवाही से कहा—“उन्हें क्या अच्छा लगता होगा—यह मैं और आप क्या स्वयं भगवान् भी शायद ही जानता हो।”

उर्मिला ने कोतुक से पानी में चप्पू पटका तो पानी उछलकर दूर तक जा गिरा। मेरी आंखें उसके मनमाने क्रिया-कलापों में उलझ गईं। मैंने उस क्षण अनुभव किया कि यौवन जब सारी जकड़बदियों को तोड़कर उद्दाम हो उठता है तो उसका स्वरूप कुछ और ही होता है। वह एक गुनगुनाती हुई नदी का रूप धारण कर लेता है जिसकी अतल गहराइयों में डूबा जा सकता है—उसके उछल प्रवाह में खुलकर तैरा भी जा सकता है। ऐसे क्षण किसी भी प्रकार की वर्जना उसे बाढ़ पर आई स्वच्छन्द सरिता का रूप दे देती है।

उर्मिला अपनी अनभ्यस्त गोल कलाईयों को घुमा-घुमाकर पानी में इधर-उधर चप्पू मार रही थी। पानी उछल-उछल कर उसकी साड़ी भिगो रहा था। उसके गोरे निखरे चेहरे पर भी पानी की बौछार गिर रही थी। मुझे लग रहा था जैसे वह दीवानगी की हद तक इन थोड़े से क्षणों पर आसक्त हो उठी हो। मारक दबावों से शायद वह साग हिसाब चुकता कर लेने को तत्पर थी।

मेरी आंखें जैसे उसकी उन कलाईयों पर बंधकर रह गई थी जिन्हें हरे काच की चूड़िया काफी ऊपर तक धरे हुए थी और चप्पू चलाते रहने से वह निरंतर ऊपर-नीचे हो रही थीं। नाव जब टेढ़ी होने लगती तो उर्मिला भयभीत होने का भ्रम पैदा करने लगती थी।

सहसा मेरी आंखें उसकी ओर से हटकर दूर सघन वृक्षों की छाया में लेंटे पंडित मुकुंद माधव की ओर चली गईं। मैं उन दोनों को एक-दूसरे से बहुत दूर और भिन्न मनोभावों में जीते देखकर सिहर उठा। क्या वास्तव में उर्मिला अपने पति को पूरी तरह विस्मृत करके आत्म विनोद में लीन थी या फिर वह उसे भूल जाने का भ्रम पैदा कर रही थी।

नाव आगे बढ़कर अंतिम छोर तक जा पहुंची तो मैंने पूछा—“क्या अब चले? और भी कई जगह घूमना है।”

उसने जैसे मेरी बात सुनी ही नहीं। ताबड़ तोड़ चप्पू पटकते हुए उसने इतना पानी उलीच दिया कि मेरे कपड़े पूरी तरह भीग गए। इस पर वह खिलखिलाकर हंसने लगी तो मैं बोला—“अरे यह क्या? तुमने तो बिना मौसम ही होली खेल डाली।”

अपनी खिलवाड़ जारी रखते हुए उसने कहा—“होली का कोई मौसम नहीं

होता लेखक जी। जो जब चाहे होली, दीवाली मना सकता है और जब चाहे अपने ऊपर पतझर और बसंत ला सकता है। डूबकर जीने की लालसा का न कोई खास मौसम होता है न उम्र। क्या सारी प्रकृति में भी बसत सिर्फ एक ही समय आता है? सारी दुनिया घूम जाइए, अलग-अलग स्थानों पर ऋतुभेद दिखलाई पड़ेगा फिर हम एक ही जगह के होकर क्यों रह जाएं?”

मैंने चकित होकर उसकी बात सुनी। कई क्षणों तक मैं उसके वाक्यों की भुल-भुलैया में खोया रहा और फिर बोला—“हां जिस तरह दर्शनशास्त्र समझने और उसकी व्याख्या करने की कोई निश्चित आयु नहीं होती।”

“समझ और व्याख्या की उम्र तो होती है मगर अनुभव और अनुभूति शायद आयु की मोहताज नहीं है।”

“जो हो, तुमने जो बसंत और उत्सव अनुभव करने की बात कही है वह बहुत गहराई तक अटकाती है। क्या कोई दार्शनिक भी कह पाता वह जो तुमने इतने अनायास ढग से कह दिया।”

वह जैसे मेरे कथन से एकाएक सजग हो उठी। एकटक मुझे देखकर बोली—“बना रहे हैं न मुझे?”

“अरे भाई इतने अनुपम ढग से निर्मित को कोई और क्या बना सकता है?”

“अच्छा यह तो अब रहने ही दीजिए—कृपया एक अच्छे मल्लाह की तरह नाव किनारे से लगाइए। मैं तो दिल्ली आते हुए इसीलिए सकुचा रही थी कि जहा पानी भी पेसो में बिकता है वहां पानी, पेड़-पौधों के दर्शन कैसे होंगे। मुझे बहुत अच्छा लगा यहां आकर। हरियाली तो चारों ओर फैली ही पड़ी है—नावों में सैलानी भी दीख रहे हैं।”

मैंने वो ही पूछा—“क्या तुम दिल्ली शहर में रहना पसंद करोगी?”

“क्यों नहीं? क्या यहां आदमी नहीं रहते? आदमी जहां भी कुछ दिन रह लेता है—वही जगह अपनी लगने लगती है। स्थानों के साथ भी हमारी बाते होती हैं।”

“स्थानों के साथ कभी तुमने बाते की है?”

“बहुत बार। अपना घर छोड़कर जब आप कहीं बाहर जा रहे हों तो फिर थोड़े दिनों बाद ही उस घर में, उसी वातावरण में लौटने को क्यों उतावले होने लगते हैं?”

“अपनी पहचान अपने ही लोगों में तलाश करने के लिए लौटना स्वाभाविक है। बाहर जाकर हम अपनी पहचान जो खो बैठते हैं?”

उर्मिला बोली—“नहीं यह पूरा कारण नहीं है। कुछ दिन आप अपने नगर-परिवेश और लोगों से कटकर कहीं और जाएं तब फिर एक नई पहचान बन ही जानी है लेकिन वह घर, वह वातावरण आपको बाहर नहीं मिल पाता इसीलिए आप अपने घर और उसकी दीवारों-द्वारों से मिलने की उत्कट इच्छा लेकर फिर फिर लौटकर आते हैं। इसका निश्चित उदाहरण यह है कि विदेशों में जा बसने वाले—चाहे अपने गांव या कस्बे में उनका कैसा भी गया गुजरा मकान हो—वहां बड़ी होम से लौटकर आते हैं। उस घर की दीवारों से उनके दुःख-सुख की न जाने कितनी स्मृतियां जुड़ी हुई होती हैं।”

मैंने कहा—“यह तो तुम ठीक ही सोचती हो मगर पंडित जी तो शायद इस तरह नहीं सोचते। उन्हें तो बड़े शहरों की भागम-भाग और भीड़-भाड़ से सख्त नफरत है।”

मैंने पंडित मुकुंद माधव का उल्लेख किया तो उसकी आखें दूर घास पर लंटे पंडित जी की ओर चली गईं। वह विनोदी स्वर में बोली—“देख रहे हैं मेरे पति कितने समझदार हैं। हम और आप जो बच्चों वाली यह निरर्थक उछल-कूद कर रहे हैं उसे वह कितने दया भाव से ले रहे हैं। लंबे-चौड़े लॉन की हरी घास पर लेटकर अनंत नीले आकाश को निरखना कितना आह्लादकारी है—यह तो वही जानते हैं। मेरे जैसी अभद्र अनाड़ी उसकी महिमा को कैसे जान समझ सकती है?”

अपनी बात खत्म करके वह इस तरह-मुक्त भाव से हंसी कि मैं समझ नहीं पाया कि वह परिहास में कह रही थी अथवा व्यंग्य में।

“चलो चप्पू चलाने से तुम्हारा मन तो बदला।”

“मेरा मन तो वास्तव में अभी कहीं जाने को नहीं करता। मैं तो यही चाहती हूँ कि सब जगह जाना स्थगित करके यही नाव में इधर-उधर हिलती डुलती रहूँ।”

मैंने पाया कि उर्मिला में एक विशिष्ट प्रकार की तल्लीनता का भाव था। वह जिस ओर भी झुक जाती थी उसी में परम एकाग्रता और रसमग्नता की स्थिति बना लेती थी।

मैंने पूछा—“अभी तक भी इस खिलवाड़ से तुम्हारा मन नहीं भरा। दोपहर हो रही है। मैं सोचता हूँ कि अब आप दोनों को खूब भूख लग आई होगी। कहीं पंडित जी यह न सोचते हों कि मैंने उन्हें भूखा मार डाला। सुबह भी उन्होंने कुछ अधिक तो खाया नहीं था।”

“प्लीज अभी किसी भूख का हवाला देकर इतना अच्छा और सहज सुलभ आनंद छिन्न-भिन्न मत कीजिए। गर्मी का दिन तो बहुत बड़ा और खूब लंबा होता है। सारा दिन और सारी शाम पड़ी है, बहुत कुछ घूमना-फिरना हो सकता है। पेड़ों की शीतल छाया में यह छोटी-सी नौका हिलाते-डुलाते मुझे खूब अच्छा लग रहा है।”

मैंने फिर उसे नहीं छेड़ा। वह पानी की सतह पर चप्पू पटक-पटककर खूब पानी उछाल रही थी। मैं उसके पास किनारे पर ही खड़ा उसका खिलवाड़ देख रहा था। यह उर्मिला मुझे पिछले दिन की उर्मिला से एकदम अलग लग रही थी। उसने अपनी साड़ी और मेरे कपड़े काफी भिगो डाले थे।

छोटे शहरों में रहने वाली महिलाएं प्रायः पतियों की अनुगामिनी होती हैं। उनकी पसंद और रुचिया भी अक्सर अपने पतियों जैसी ही हो जाती है। अपना स्वतंत्र मिजाज और तेवर भी नहीं रह पाता। उनके निर्णय भी बहुत कुछ वही होते हैं जो उनके पतियों द्वारा लिये जाते हैं। जहां जिदगी बहुत धीमी गति से चलती है वहां जोखिम से बचते हुए एक अलग ही तरह की जीवन शैली निर्मित हो जाती है।

जब मैं कई मिनट तक किनारे पर चुपचाप खड़ा उसका क्रिया-कलाप देखता रहा तो वह मेरी ओर मुखातिब होकर बोली—“आपका यह सब अच्छा नहीं लग रहा है न?”

“जो तुम कर रही हो अगर यह भी मुझे अच्छा नहीं लगेगा तो फिर अच्छा लगने को रह ही क्या जाएगा? मेरे पास सूची कैमरा होता तो मैं तुम्हारी इन सब मनभावना अठखेलियों पर एक फिल्म ही बना डालता।”

“सच्ची?” उसने इतने भोलेपन से पूछा कि मैं उसे देखता रह गया।

“सच्ची नहीं एकदम सच्ची। जो कुछ दोबारा देखने का लोभ हो और उसको देख सकने की बाद में कोई संभावना शेष न रह जाए उसको कहीं कैद करके सुरक्षित कर लेने को किसका जी नहीं चाहेगा।”

वह गहरे सतोष से मुस्कराई पर अगले क्षण ही उसने एक लंबी सांस खींचकर कहा—“पता नहीं आदमी को कहां क्या मिल जाए।” फिर वह एकाएक गंभीर हो आई और बोली—“हम कभी तय नहीं कर पाते कि वास्तव में हम क्या चाहते हैं।”

मैं बोला—“क्यों तय करें? जब जो मिल जाए उसी का स्वागत करना ठीक है शायद।”

।
।
।
।

उ
ने

त
र

न्हें

।
ती
जा

थी
नी।

“...
करके
है? :
कि उ
लेकर
हर हि
कोई :
पर व
इसमें
है ।...

“पर यह नहीं हो पाता । हम भीतर से स्वीकार करके ही सतुष्ट हो सकते हैं ।”
फिर एक क्षण ठहरकर बोली—“वहस लंबी हो जाने के डर से अब मैं यह
बचकानापन छोड़े देती हूँ । चलिए चले, पता नहीं वह क्या सोचते होंग ।”

मैंने घड़ी देखी डेढ़ बजने वाला था । उर्मिला डगमगाती नाव से बाहर निकलने
को हुई तो नाव किनारे की तरफ से पूरी झुककर टेढ़ी हो गई । मैंने आगे बढ़कर
उसका हाथ पकड़ा और किनारे की ओर खींच लिया इस हड़बड़ी में वह मेरी ओर
खिंचकर मेरे कंधे से आ लगी ।

तुरत अलग हटते हुए बोली—“मैंने आपको भी पानी में गिरा दिया होता ।”

मैं हंसकर बोला—“कोई बात नहीं, डूबने लगता तो तुम्हीं पर इल्जाम आता ।”

उसने शरारत से मेरी ओर देखकर कहा—“यह अखबार में एक बड़ी सनसनी
खेज खबर बन जाती और हत्यारिन का फोटो भी छप जाता ।”

हमें अपनी ओर आते देखकर पंडित मुकुंद माधव भी घास के बिछौने से उठकर
खड़े हो गए ।

लेखक
और हि
समग्रत
समझ :
खाई व
अंकित
समर्पण
किस प्र
किया है
लिए गा
एक ऐ
पाटने में
विलक्षण
से आपु
को दृष्टि

वहा से चलकर हम लोग एक खुले रेस्त्रां मे गए और मैंने पंडित मुकुंद माधव से कहा—“पंडितजी चाय तो आप पीएंगे नहीं। गर्मी बहुत ज्यादा है—इतनी तेज धूप में कोई ठंडा पेय ही ले लीजिए।”

वह बोले—“मेरे लिए तो ठंडा पानी ही सर्वोपरि शीतल पेय है पर वह भी यहां क्या मिलेगा। घर से निकलते समय मैंने जो कुछ खा-पी लिया मेरे लिए तो वही यथेष्ट है। हां, आप दोनों जो चाहे खाएं पीएं।”

मैंने उर्मिला का चेहरा देखा। उस पर फिर से खीझ और तनाव के भाव उभरने शुरू हो गए थे। दस मिनट पहले की चुहलभरी मस्ती पूरी तरह गायब हो चुकी थी।

मैंने बैरा से दो प्याले चाय और अच्छे बिस्कुट लाने के लिए कहा और पंडित मुकुंद माधव की अनमनी सूरत देखकर बोला—“आपने अच्छा किया जो नौका विहार नहीं किया। आराम से घंटे भर की नींद निकाल ली।”

“हां, मैंने तो एक झपकी ले ली। पर उन लोगों को क्या कहा जाए, जिन्हें झख मारने में ही आनंद मिलता है।”

निश्चय ही यह कहकर वह अपने मन की भड़ास निकाल रहे थे और उर्मिला को संतप्त करना चाहते थे। उर्मिला नाव में बैठकर जो अठखेलियां करती रही थी और मुक्तभाव से हसती बोलती रही थी, वह पंडित जी से झेला नहीं जा रहा था।

मैंने हसते हुए कहा—अर पंडित जी यहां उधले पानी में झख मछली थी

उन्होंने तडपकर उर्मिला का चेहरा देखा और आवेश में बोले—“आपसे इस ठहर हुए जल में भी एक मछली नहीं फसाई जा सकी, यह मैं कैसे मान लू?”

मैंने सहमते हुए उनकी ओर देखा। वह और भी उत्साहित हो उठे। उनका यह आरोप प्रकाशतर से उर्मिला को गहरी पीड़ा पहुंचाने के लिए ही था। वह उर्मिला की नम्रतामयी मुद्रा देखकर और भी अधिक आक्रामक स्वर में बोले—“ताज्जुब है कि आप जैसा कुशल खिलाड़ी इस दिशा में कुछ भी नहीं कर पाया।”

मैंने उनकी बात का उत्तर न देकर उर्मिला के सामने रखा चाय का प्याला उठाकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—“पानी पीने से प्यास बढ़ेगी। पानी न पीकर अगर गरम चाय पीयोगी तो फिर काफी देर तक प्यास नहीं लगेगी।”

“वह तो पुरानी कहावत है—गरमी ही गरमी को मारती है। आग बुझाने के लिए कुछ गरम तो होना ही चाहिए।”

मैंने उनके द्विअर्थी शब्दों की भीतरी टीस को और बढ़ाना उचित नहीं समझा। वह किसी पर पुरुष के साथ दो घंटे तक अपनी पत्नी का मुक्त भाव से रहना पसंद नहीं कर पाए थे। उर्मिला की स्वच्छन्दता उनके लिए बड़ी भारी चुनौती भरी पराजय बन गई थी।

जल्दी से चाय खत्म करके मैं उठा और काउंटर पर जाकर चाय के पैसे चुका आया। तब तक उर्मिला भी अपनी चाय समाप्त कर चुकी थी। मैंने उन दोनों को संबोधित करते हुए कहा—“अब आप लोग उठिए।”

पंडित मुकुंद माधव और उर्मिला दोनों मेरे पीछे चल पड़े। रेस्त्रां से बाहर निकलकर मैंने कुछ क्षण सोचा कि अब इन लोगों को लेकर कहां जाया जाए।

सड़क पर पहुंचते ही पंडित जी ने पूछा—“क्या अभी आप लोगों का घर लौटने का इरादा नहीं बना?”

मैंने उनकी बात का उत्तर देने के बजाय सड़क से गुजरती एक खाली टैक्सी को हाथ उठाकर रोका।

ड्राइवर ने टैक्सी रोककर दरवाजा खोला तो मैंने उर्मिला और उसके पति को पिछली सीट पर बैठने को कहा और स्वयं अगली सीट पर ड्राइवर की बगल में बैठते हुए कहा—“महरोली चलो।”

टैक्सी में उर्मिला और पंडित मुकुंद माधव परस्पर रुठे और ऐंठे हुए एक-दूसरे से अलग हटकर बैठे हुए थे। न चाहते हुए भी मैं हटात् उन दोनों के बारे में सोचने को विवश था। दैहिक साम्राज्य के बावजूद उन दोनों के बीच अनुल्लवनीय दूरी फैली हुई थी। एक बार मेरा मन हुआ कि मैं पीछे की ओर मुह घुमाकर कुछ बात चलाऊ

पर उस दुर्निवार टडेपन के माहौल में मुझे कोई ऐसी बात ही नहीं सूझी जो मैं उन लोगों से कर सकता। जब स्थिति सहज सामान्य नहीं होती तो कोई बात भी नहीं सूझती।

मुझे सबसे ज्यादा आशंका यह थी कि वह बिफरे हुए पति-पत्नी कहीं टैक्सी में अगल-बगल बैठे हुए एक दूसरे से जूझने न लगे।

पर चलो खैरियत हुई। जब तक टैक्सी कुतुबमीनार के करीब पहुची वह दोनों मुह सिले बैठे रहे।

उर्मिला ने टैक्सी से बाहर आकर अपना पर्स मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—“आप किराए के रुपये निकालकर भाड़ा चुका दे। फालतू लोगों का बोझ आपके सिर पर क्यों पड़े।”

मैंने उसका पर्स अपनी बाजू में लटका लिया और जेब से रुपये निकालकर टैक्सी का किराया चुका दिया। बाद में उर्मिला को पर्स लौटाते हुए मैं बोला—“बहुत मोके आएंगे बहुत से रुपये देने को। आपका भारी-भरकम बटुआ तब तक के लिए अपना मुह बंद रखे तो अच्छा है।”

“हां, बेचारे बटुए की क्या बिसात है कि जगह बेजगह अपना मुंह खोलता घूमे। ये तो आदमी ही बहुत है इस छोटे काम के लिए।” फिर एक उचटती-सी नजर पड़ित माधव के चेहरे पर डालकर कहने लगी—“यह आपकी सरासर ज्यादाती है कि हर जगह आप ही बिल का पेंमेट करते हैं। मुझे तो यह सोचकर ही शर्म महमूस होती है कि आप पर फालतू में कितना बोझ डाल दिया।”

उर्मिला ने ‘हमें शर्म आती है’ न कहकर ‘मुझे’ का प्रयोग करके अपने पति को जैसे स्वयं से काटकर एकदम अलग कर दिया और बोली—“कुछ भी हो, आगे से मैं आपको पैसे नहीं देने दूंगी।”

मैं हंस पड़ा—“अच्छा-अच्छा मत देने देना भई। यह कोई अगडने का मुद्दा नहीं है।”

वह बोली—“मैं आपको कसम दे दूंगी।”

मैंने जोर का ठहाका लगाया और बोला—“आय। अभी तक दुनिया में यह कसम जैसी चीज भी बाकी बची हुई है। मैं तो सोचता था, कसम-वसम जैसी चीजें कब की लद चुकी होगी इस दुनिया जहान से।”

मैंने कुतुब की लाट की ओर बढ़ते हुए गाइड के अंदाज पर कहा—“तो मेहरबान-साहेबान जरा गौर से सुनिए। यह जो आसमान के सीने में आगोश बनाने को वेचैन, अजी मुश्शान इमारत आप देख रहे हैं—यह काफी कुछ देख चुकी है। जैसा

कि इसका नाम से जाहिर है यह कुतुबद्दीन एबक बादशाह की तामीर कराई हुई हिस्टोरिकल बिल्डिंग है।”

उर्मिला मेरी फिकरेबाजी वाली भाषा सुनकर हंसने लगी—“आप तो एकदम पेशेवर गाइड की तरह बोल रहे हैं।”

“क्या करे साहब, रोजी-रोटी का मुआमला जो ठहरा।” मैंने अपने चेहरे पर बेचारी का भाव लाकर कहा।

पंडित मुकुंद माधव की आंखें कुतुबमीनार पर लगी हुई थी। उन्होंने उधर से आखे हटाते हुए कहा—“मगर यह भी तो कहा जाता है कि यह मीनार पृथ्वीराज चौहान की बनवाई हुई है। उसकी प्रेयसी और पत्नी महारानी संयोगिता यमुना के दर्शन किए बिना पानी भी नहीं पीती थीं सो पृथ्वीराज चौहान ने अपनी प्राणेश्वरी के लिए यमुना दर्शन का यही उपाय खोजा और इसका निर्माण करवा दिया।”

उनकी शका पर मैं हस पड़ा और बोला—“तो पंडित जी एक बात तो बतलाइए कि जब तक संयोगिता पृथ्वीराज की प्राणेश्वरी नहीं बनी थी और कन्नौज में रहती थी तो यमुना के दर्शन कहा से किया करती थी?”

पंडित जी इस बात का कोई उत्तर नहीं खोज पाए तो मैं बोला—“असल बात यह है कि कठमुल्ला हिंदू मानसिकता यह मानने को तैयार नहीं है कि इतनी शानदार मीनार का नाम किसी मुसलमान बादशाह के नाम से जाना जाए पर क्या किया जाए आम जनता आज भी इसे कुतुबमीनार ही कहती है। और यह इमारत सारी दुनिया में इसी नाम से जानी-पहचानी जाती है।”

उर्मिला बोली—“अच्छा गाइड महोदय अब कुछ और भी तो बताइए। प्रियतम और प्राणेश्वरी का स्वस्ति वाचन खूब हो चुका।”

मैंने आगे बढ़ते हुए कहा—“जी हाँ और भी बहुत कुछ बतलाया जाएगा। पहले मार्गदर्शक का पर्स खोलकर मेहनताना तो चुकाइए। मैं कोई शौकिया गाइड का काम नहीं कर रहा हूँ।”

पंडित मुकुंद माधव मेरी और उर्मिला की बातें जैसे सुन ही नहीं रहे थे। वह हम दोनों को एक जगह ठहरा हुआ देखकर चौंके और पूछने लगे—“क्यों जी यहाँ इतनी भीड़-भाड़ क्यों इकट्ठी हो गई है—क्या इस जगह कोई मेला भी लगता है?”

कुतुबमीनार देखने के लिए रविवार को सैलानियों की बेपनाह भीड़ उमड़ पड़ती है। आज भी वैसी ही भीड़ थी। सैकड़ों लोग मीनार की सीढ़ियों से ऊपर चढ़ रहे

थे और उतरकर आन वाला का सख्या भा कछ नहा थी मन पडित जी को बतलाया कि जो लोग बाहर से आते हैं उनके सबधी उन्हे कुतुब की लाट दिखलाने के लिए जरूर लाते है। इसके अलावा पर्यटन के शौकीन—जिनमें देशी-विदेशी दोनों ही होते है—वह सब भी यहा जरूर आते है। वैसे तो रोज ही भीड़ होती है मगर आज रविवार होने की वजह से मेले जैसा दृश्य है।

कुतुबमीनार से थोडा हटकर अष्ट धातु के स्तंभ के पास भी लोगों की खासी भीड़ जुटी हुई थी। कितने ही लोग बारी-बारी से धातु के स्तंभ को अपनी बांहों में भरने की कोशिश कर रहे थे।

मैने पंडित मुकुंद माधव को कुतुबमीनार पर चढ़ने के लिए उत्साहित करते हुए कहा—“पंडित जी मीनार के ऊपर जाकर दिल्ली शहर का अद्भुत दृश्य देखने को मिलेगा। आपको यह बहुमंजिला महानगर एक तरह से बच्चों के घरोंदों सरीखा नजर आएगा।”

पर पंडित जी ने मीनार पर चढ़ने के लिए कोई उत्साह नहीं दिखलाया। वह बोले—“व्यर्थ मैं इतनी सीढ़ियां चढ़ने का क्या लाभ? मुझे दिल्ली शहर का फैलाव देखने से क्या मिलेगा? अब तो आगे-आगे सारे शहर ही दिल्ली की तरह फैलते चले जाएंगे। जब हम पशुओं की तरह जनसख्या बढ़ाते चले जाएंगे तो क्या होगा! चारों तरफ पशुओं के बाड़ों जैसी भीड़ ही भीड़ दिखलाई पड़ेगी। यहां आकर भीड़ का हिस्सा बनने के प्रति मेरी कोई रुचि नहीं है। लगता है दिल्ली में निठल्ले लोगों की कोई कमी नहीं है।”

मैने उर्मिला का चेहरा देखा। वह अपने पति के शब्दों के प्रति पूर्णतया उदासीन थी। वह बोली—“हमें कौन से बड़े कामकाजी और सार्थक लोग हैं जो हमें भीड़ का हिस्सा बनने में एतराज या परेशानी हो।” परोक्ष रूप से उसने अपने पति की बातों पर ही यह प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। पर उसने उनकी ओर आखे नहीं उठाई और मुझसे बोली—“चलिए प्रभाकर जी हम लोग तो ऊपर चढ़कर देखे ही। जब इतने जने ऊपर तक जा-आ रहे हैं तो कोई विशेषता देखने को मिलती ही होगी। सब लोग तो फालतू और पागल नहीं है।” कुछ क्षण ठहरकर कहने लगी—“मैं कौन सा यहा रोज-रोज आऊंगी। मुझे यहा लावेगा भी कौन। जनम जिदंगी में एक बार आना हुआ है, जहां जो देखने को मिले मैं वह देख ही लेना चाहती हूं।”

पंडित जी बोले—“अच्छा, आप लोग जो देखना सुनना है वह देखिए-सुनिए, तब तक मैं आस-पास घूमकर इस प्राचीन इमारत के खडहरो में घूम लेता हूं। आपको शायद मालूम नहीं कि मैं विद्यार्थी जीवन में एक बार सबके साथ पर्यटन के उद्देश्य

स भारत भ्रमण के लिए निकला था ता यहा भी आया था आर कुतब की लाट ऊप तक ढख आया था। तब इसका सात मजिले हुआ करती थी।”

उर्मिला ने व्यग्य मे कहा—“आप भरे जग प्रलय। जब यह सब कुछ देख ह चुके है तो फिर सिवाय व्यर्थता के अब और क्या बाकी रह गया है? हा, खंडहरे मे घूम लेना शायद अधिक सार्थक हो। शायद वहा सयोगिता या दूसरी कोई मन् भावन वस्तु हस्तगत हो जाए।” अपनी बात कहकर उसने अपने पति पर एक कडी नजर डाली और निष्ठुरतापूर्वक हस पड़ी।

विदूष को मै जितना ही कम करना चाहता था वह उसी अनुपात मे बढ़ता चला जा रहा था। मैने उर्मिला के व्यग्य को काटते हुए कहा—“पंडित जी के पास स्वय इतनी अनमोल मणि है कि उसके रहते और कुछ अनमोल नही रह जाता। उसे छोडकर वह और कुछ हस्तगत करने की सोचे, इतने विवेकहीन वह नहीं है।”

पर उर्मिला को जैसे अपना आवेश और आक्रोश प्रकट करने का एक अचूक अवसर मिल गया। वह उसी पहले वाले अदाज पर बोली—“भले ही कोई मणि हो या रत्न पर जब वह हाथ लग जाता है तो उसके साथ भी काच सरीखा व्यवहार होने लगता है। उसे देखने वाली आखे तो सबको नही मिल सकतीं।”

अनजाने मे मेरी कलाई छूते हुए उसने आगे कदम रखा और बोली—“चलिए-चलिए, किसी के पीछे क्यों पडते हैं। कुतुबमीनार-ताजमहल और न जाने क्या-क्या तो विद्यार्थी काल मे देखा ही जा चुका है। जैसे उनके प्रति आकर्षण मर चुका है, वैसे ही बाकी सारी चीजों के प्रति निःशेष हो चुका होगा।”

तभी खंडहरो की ओर विदेशी जोड़ों का जाते देखकर उर्मिला ने संकेत किया—“देखिए कितनी विदेशी तितलिया और चटपटी चीजे उधर जा रही है। इन्हे भी उन्हीं के पीछे जाने दीजिए। उधर अभी नवीनता की काफी गुंजाइश बाकी है।”

पंडित मुकुंद माधव उर्मिला के घातक प्रहारों से तिलमिला उठे लेकिन बलपूर्वक मुस्कराते हुए बोले—“देखता हूं इधर-उधर वाले माल के प्रति इनका आकर्षण भी कुछ कम नहीं है। व्यर्थ ही कुतुबमीनार पर चढ़कर पैर तुड़ाई करेंगी—यह भी किसी नायाब माल की खोज मे इधर खंडहरों मे क्यों नहीं निकल जाती?”

मुझे हर पल विस्फोटक स्थितियों का साक्षी होना पड़ रहा था। उन दोनों के बीच बात-बे-बात द्रोह की दरार बढ़ती ही जा रही थी। मैने पंडित मुकुंद माधव का

हाथ खींचकर कहा—“पंडित जी उर्मिला जी के शब्द समस्त पुरुष जाति के प्रति मारक चुनौती जैसे हैं। मैं और आप दोनों मिलकर इन्हें दिखला देंगे कि डधर-उधर वाली चीजे हमारे लिए क्या बेचती है।”

मैंने पंडित जी को सहज होने का एक अवसर दिया था पर वह तो जैसे बदला लेने की आग में जल रहे थे। भन्नाते हुए बोले—“प्रभाकर जी, मैं गलत चुनौतियां स्वीकार नहीं कर सकता, न झूठे सच्चे निराधार आरोप। यह मेरा स्वभाव नहीं है। यदि दूसरे गिरने लगे, पतित होने लगे, मार्गच्युत हो जाए तो मैं वैसा नहीं हो सकता। भद्रता अथवा शील छोड़कर कोई क्या बन जाता है—आप इस तमाशे के दो दिनों से साक्षी है।”

मैंने उनके चेहरे पर दुःख की परछाई उभरते हुए देखी। मुझे भीतर-ही-भीतर उसके बेचारेपन के प्रति गहरी कचोट-सी अनुभव हुई पर मैं उन्हें निर्दोष कैसे मान पाता? वह क्या उर्मिला को अपनी व्यंग्यपूर्ण भाषा से उकसा नहीं रहे थे? अपनी सहजता खोकर वह अपनी पत्नी को सामान्य बने हुए देखना चाहते थे, जो एक असंभव बात थी। क्रिया की प्रतिक्रिया न हो यह कैसे संभव होता?

मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की—“देखिए पंडित जी जब से आप यहां दिल्ली में दाखिल हुए हैं बराबर पलायन की मनःस्थिति में हैं। हम लोगो से दूर जा बैठते हैं या छोड़कर भागने की कोशिश करते हैं। मैं मानता हूं कि इस बेहूदा और भीड़ भरे शहर में आप बुरी तरह ऊब उठे हैं लेकिन निरंतर असहयोग करते चले जाने से तो आपको शायद शिवमंगल सिंह ‘सुमन’ की वह कविता याद हो जिसमें उन्होंने कहा है ‘संसार है संसार है—रुकना यहां अच्छा नहीं।’”

क्षण भर पहले जो विवशता—दैन्य और पराजय उनके मुंह पर दिखाई दी थी जैसे उन्होंने उसे काट फेंकने की जिद ही पकड़ ली—“नहीं-नहीं, मैं ठीक हूं। मुझे कोई थकान-वकान नहीं है। आप इन्हे वह सब दिखलाइएगा जो यह देखना चाहती है। हम ही यहां कौन अकेले हैं—इस जन समुदाय में न जाने कितने लोग हमारी तरह उपेक्षित और अवांछित होंगे। अकेले आदमी का जीवन क्या ठहर जाता है—वह भी किसी-न-किसी तरह व्यतीत हो ही जाता है।” अपनी बात खत्म करके पंडित जी तैश में आगे बढ़ गए।

उसी समय उर्मिला को न जाने क्या चुहल सूझी उसने अपने कंधे पर पड़ा बैग उतारकर उनकी ओर बढ़ाते हुए मुझसे कहा—“जब यह ऊपर जाने की तवालत नहीं उठा रहे हैं तो इस बोझ को यहीं सभालें। मैं इसे अकेली ही क्यों ढोती फिरू?”

हालांकि वह वेग जरा भी भारी नहीं था और न उर्मिला को उससे कोई परेशानी थी पर शायद उसे अपने पति को सौंपकर वह उनसे इसी वहाने संधि करना चाहती थी।

उर्मिला के कटुता कम करने के इस प्रयास की मैंने मन-ही-मन सराहना की और हसते हुए बोला—“उर्मिला आप हैं बहुत होशियार।”

उसने मेरी ओर देखा और भोलेपन से पूछा—“इसमें आपको मेरी कौन-सी होशियारी नजर आई?”

“यही कि आपने पंडित जी के हाथ में अपना वेग सौंपकर स्वयं को तो घूमने-फिरने के लिए स्वतंत्र कर लिया और उन्हें बधन में डाल दिया। अब वह जिधर भी जाएंगे, सब यही सोचेंगे कि बेचारे अपनी बिछुड़ी हुई पत्नी को दूढ़ते फिर रहे हैं।”

पंडित मुकुंद माधव ने मेरे परिहास को भी सहजता से ग्रहण नहीं किया। वह उसे दरगुजर करते हुए बोले—“ठीक है जी हम तो सामान ढोने वाले हम्माल की हैसियत से ही इनके साथ आए हैं। दिलजोई करने वालों की तो इन्हें कहीं कमी नहीं है। कुली की भी कोई कद्र होती होगी—हमारी तो उतनी भी नहीं है इनकी नजर में।”

सहसा वह आगे बढ़ते-बढ़ते थम गए और मल्लिका के पर्स की ओर संकेत करके बोले—“पर्स भी तो कम वजनी नहीं है। इसे ढोने वाला भी तो कोई चाहिए ही होगा। यदि इसको मैं लेकर भाग जाने वाला नहीं हू तो फिर इसे देने में ही क्या आपत्ति है?”

यह एक विषम परिस्थिति थी। उर्मिला के चेहरे पर एक क्षण के लिए उलझन दिखाई दी पर अगले ही क्षण उसने अपना छोटा-सा पर्स उनकी ओर बढ़ा दिया।

उन्होंने पर्स पकड़ लिया तो उर्मिला ने उधर से मुंह फेरकर कहा—“आइए चलें, देखे आपकी यह कुतुबमीनार क्या है—चढ़कर देखे तो सही। इन्हें तो मैं गले पड़ा जंजाल लगती हूँ। मेरे साथ रहते हुए तो इन्हें कुछ भी देखना-सुनना भला नहीं लगता।”

मैं बोला—“आप भी तो हद करती हैं। मेरा खयाल है कि आपने अगर उनका हाथ पकड़कर कुतुबमीनार पर चढ़ने का अनुरोध किया होता तो वह यों मुंह फेरकर न चले जाते। जरूर ही हमारे साथ ऊपर तक चलते।”

“छोड़िए अब अनुरोध और आग्रह की बातें। यह जबरदस्ती की चोंचलेबाजी

अब मुझसे नहीं होती। बहुत बार करके देख चुकी हूँ। जब कोई आदमी पत्थर की तरह सख्त, ठंडा और बेहिम हो जाए तो उसे कहा तक खींचा घसीटा जा सकता है? फिर उस तरह की एकतरफा मन-स्थिति हर व्यक्ति कौन बनाकर रह पाता है? अब ये इकलखोर इधर-उधर टक्करे मारते घूमेगे। इनका तो यह स्वभाव ही बन गया है।”

मैंने कुतुबमीनार की सीढ़ियों की ओर बढ़ते हुए देखा कि पंडित मुकुंद माधव खडहरों की दिशा में बढ़ते चले जा रहे थे और उर्मिला का बैग उन्होंने अपने कंधे पर लटका लिया था।

शायद उर्मिला की आग्रहहीनता ने उन्हें और भी सख्त बना दिया था। मैंने फिर उनका कोई उल्लेख नहीं किया। मैं उर्मिला को और अधिक आहत नहीं करना चाहता था।

हम दोनों मीनार में दाखिल हो गए और कम चौड़ाई वाली सक्री तथा ऊबड़-खाबड़ सीढ़ियों पर चढ़ने लगे। कुछ लोग हमारे आगे चल रहे थे तो भीड़ का रेला हमारे पीछे से बढ़ता चला आ रहा था।

उर्मिला के चेहरे पर कुछ क्षण पहले की कटुता-निराशा और विद्रूप का कोई चिह्न शेष नहीं था वह सहज होकर बोली—“यहां तो हजारों आदमी रोज आते होंगे। इन सीढ़ियों का भाग्य देखिए कि कैसे-कैसे लोगों के पाव इन पर पड़ते हैं। यह बोल सकतीं तो कितनी विचित्र-विचित्र बातें सुनातीं।”

“जरूर सुनातीं। क्या पता अब भी सुना रही हो—हम सबकी भाषा कहा समझ पाते हैं?”

“आप एकदम ठीक कहते हैं। अब आदमी ही हरदम अपने साथ रहने वालों की भाषा नहीं समझता तो मूक पत्थरों की व्यथा कौन समझ सकता है?”

साथ-साथ चलने वालों पर नजर डालकर उर्मिला बोली—“देखिए, लोग मेरे ऐतिहासिक स्थलों को देखने की कितनी उत्कंठा हैं।”

“नहीं शायद उत्कंठा उतनी नहीं है।”

“फिर?” उसने मेरी ओर देखकर पूछा।

“असल में उत्सुकता उतनी नहीं होती है। लोगों की एक खास मानसिकता होती है। वह जहां भी घूमने-फिरने जाते हैं, सारे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध स्थानों को इसलिए भी देख लेते हैं कि अपने गांव या शहर लौटकर डींग हांक सकें कि उन्होंने अमुक स्थान पर क्या-क्या देखा। दुनिया की यही मानसिकता सब कहीं होती है। बहुत थोड़े-से लोग ऐसे होते हैं जो इतिहास के मर्म में गहरे उतरकर ऐतिहासिक

स्थला को देखत ह ।

उर्मिला ने आखे टेढ़ी करके पूछा—“आपका खयाल है कि मैं भी इसी दृष्टि से कुतुबमीनार पर चढ़कर अपनी पैर तुड़ाई कर रही हूँ?”

“नहीं, नहीं। भला मैं आपके बारे में ऐसा कैसे सोच सकता हूँ।” और साथ ही मैं हस पड़ा।

“आप हस क्यों रहे हैं? मेरा मजाक बना रहे हैं न?”

“अरे नहीं उर्मिला जी! मैं वैसी जुरत कैसे कर सकता हूँ? और आपने तो यो भी यहाँ आने का कोई आग्रह नहीं किया था। वह तो मैं अपने मन से ही आपको यहाँ लेकर आया हूँ।” फिर कुछ क्षण ठहरकर बोला—“जो हो उर्मिला जी, आप भी कम टची नहीं है—बात-बात पर रुठ जाती है।”

“आप जानते हैं कि कोई क्यों रुठता है—क्यों किसी पर रुष्ट होता है?”

“क्यों नहीं जानता? हालाँकि मुझे जानने का अधिकार भले ही हो पर अवसर या पात्र कोई नहीं है।”

“बताइए न? क्या जानते हैं आप?”

“यही कि होता है क्रोध उसी पर जिससे कुछ अपना नाता है।”

“क्रोध कर सकने का रिश्ता बनाने से पीछे क्यों हट जाते हैं आप?”

“हटता नहीं हूँ—डरता हूँ कि कहीं गलत न समझ लिया जाऊँ।”

“वाकई आप बहुत डरपोक हैं।”

मैंने सीढ़ी पर ठहरकर गौर से उसकी आंखों में देखा तो वह जोर से हसकर बोली—“सीढ़ियों पर पाव जमाकर चलिए अन्यथा डगमगा जाने का डर है।”

“नहीं मैं डगमगाऊँगा नहीं। मैं रहीम की यह बात मानता हूँ जो रहीम उत्तम प्रकृति का कर सकत कुसंग।”

वह बोली—“रहीम जी ने आगे कहा है ‘चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजग।’”

“आप ठीक कहती हैं, बिल्कुल यही कहा है उन्होंने।”

वह सीढ़ियाँ लांघते हुए हाँफकर बोली—“चंदन को ही तो विष नहीं व्यापता पर हमारी स्थिति तो अलग है।”

“वह कैसे?”

उर्मिला बोली—“प्रभु जी तुम चंदन हम पानी वाली। हम ठहरे कड़वा पानी। चंदन में मिलकर उसे भी कड़वा कर डालेंगे।”

मैं बोला—“पानी कड़वा हो या मीठा—प्यासा तो पानी की ओर ही भागता है।”

“लेकिन उस पानी को पीकर पछताता ही होगा।”

मैने उसे शाबाशी-सी देते हुए कहा—“आपके संवाद तो किसी को भी निरुत्तर कर सकते हैं।”

“क्या करे? पता ही नहीं चलता कि कब मुंह से क्या निकल जाता है। उसका मतलब तो शायद मैं भी नहीं जानती।”

“मिर्जा गालिब ने इसी स्थिति को लक्ष्य करके तो कहा है ‘बक रहा हूं जुनू मे जाने क्या-क्या खुदा करे न समझा करे कोई।’”

उसने अपनी लंबी सास खींचकर कहा—“काश मैं पागल ही होती।”

“पैदा कग्के देखिए वह भी हो सकता है मगर उसके लिए फिर न जाने क्या-क्या छोड़ना पड़ जाता है।”

“छोड़ना कुछ बुरा नहीं यदि कुछ छोड़ने से ही कुछ मिल जाए।” उर्मिला ने अपनी बात कहकर एक क्षण अपलक मुझे देखा। उस क्षणांश में मुझे लगा कि मैं अपने होश-हवाश गवांकर हवाओं में ऊंचा उड़ता चला जा रहा हूं।

मैने दीवार पर अपनी हथेली टिका दी और जरा देर के लिए वही स्थिर होकर ठहर गया।

उर्मिला मुझसे दो सीढ़ियां आगे जाकर ठहर गई और पीछे घूमकर हंसी। उसके चेहरे पर भरपूर उल्लास उमड़ आया था। वह खूब हल्की और पुलकित लग रही थी। वह बोली—“देखिए मैं कितनी तेजी से ऊपर चढ़ती जा रही हूं।”

“ठीक है, मैं उतना ऊपर नहीं जा सकता। आपका अनुगामी बने रहने में ही सुखी और संतुष्ट हू।”

“अब लगे मुझे बनाने।”

मैने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया और धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए उसके पास जा पहुंचा।

सबसे ऊपर जाकर हम दोनों एक साथ खड़े होकर नीचे का दृश्य देखने लगे। वह चिहुककर बोली—“ओफ्फो क्या चित्रलिखित-सा दृश्य है।”

मैं बोला—“आख भर देख लीजिए। यही तो इस दृश्य का जादू है जो बस्तर तक से किसी को यहां खींच लाता है।

उर्मिला बच्चों की तरह किलकारी भरकर मेरे और नजदीक आ गई। बिल्कुल सटकर खड़े होते हुए बोली—“मगर यहां से नीचे देखने पर यकायक डर भी तो लगता है कि कहीं नीचे न गिर पड़ूं? इतनी ऊंचाई पर खड़े होकर नीचे झांकने में दहशत नहीं होती क्या?” यह कहते-कहते उर्मिला का सिर मेरे कंधे से आ

लगा—जैसे वह बेहाश होने लगी हो।

मैंने कंध पर उसका सिर सभालते हुए उसे सांत्वना दी—“नहीं गिरोगी नहीं। हा ऊंचाई तो हमेशा खतरनाक होती ही है। जो शिखर पर खड़ा होता है, नीचे देखना उसके लिए भयानक होता है। नीचे की चीजें उसे उनके सही आकार में दिखाई नहीं पड़ती।”

वह आखे झपकाकर बोली—“सही आकार? उसकी आप क्या बातें करते हैं। सही आकार में बिल्कुल नजदीक और सामने की चीजें भी हमें कहा दिखाई पड़ती हैं? हम दूसरों का आकार अपने मन में ही तो तैयार करते हैं। यही कारण है कि हमारा मापदंड अलग-अलग वक्त पर भिन्न होता है।”

“यह तो तुम एकदम सही कहती हो। हम अपने साथ वाले आदमी के बारे में कुछ नहीं जानते। साथ वाले ही की क्या बात, हम अपने विषय में ही कितना जानते हैं। बस जितना भर सामने दीख पड़ता है हमें वही संपूर्ण लगता है। किसके भीतर क्या कुछ छिपा है—इसे कौन जान पाता है। कितने ही दशकों तक साथ-साथ रहने पर भी हम एक-दूसरे से निपट अनजान बने रहते हैं।”

वह बोली—“मुसीबत तो यह है कि हम इस बात को बहुत देर तक महसूस भी नहीं कर पाते।”

मैं उसकी बात सुनकर हंस पड़ा और बोला—“मगर इससे भी बड़ी मुश्किल यह है कि जो हम जानते हैं, उसके अक्सर विरुद्ध चले जाते हैं।” मैंने तुरत अपनी बात का रुख मोड़ते हुए कहा—“यह मैंने एक सामान्य बात कही है। इसे व्यक्तिगत आक्षेप के रूप में मत लेना क्योंकि वह हम सब पर एक समान लागू होती है। सोच और व्यवहार में अंतर अस्वाभाविक बिल्कुल नहीं है। मुंह से निकलने वाली बातें अक्सर बड़ी हो सकती हैं पर उन पर आचरण एक व्यावहारिकता का मुद्दा बन जाता है जो शब्द की शक्ति से हमेशा कमजोर साबित होता है।”

हमसे थोड़ा हटकर एक विदेशी दूरिस्ट नीचे के दृश्यों की दनादन तस्वीरें खींच रहा था। उर्मिला उसके क्रिया-कलाप को बड़ी तन्मयता से देख रही थी पर बातें मुझसे ही करती जा रही थी। वह बोली—“आचरण पर जो नहीं आ पाता वह मात्र एक जानकारी बनकर रह जाता है। प्रायः जानकारी को लेकर संतुष्ट हो जाने वाले ही इस दुनिया में अधिक होंगे यह तो आप भी मानेंगे।”

मैं बोला—“यही तो इस दुनिया में होता रहा है। ईसा के उपदेश यूरोप के सभी देशों में रात दिन गूंज-गूँजकर धूम मचाए रहते हैं मगर वही यूरोप सारी दुनिया को मारक शस्त्र बनाकर बेचता है। उसके भयावह अस्त्र-शस्त्र ही दुनिया की सबसे बड़ी

मड़ी का निर्माण करते हैं।

“ऊँची-ऊँची बातें बोलने में किसी का क्या लगता है।” एक क्षण ठहकर उसने नीचे निगाह डाली और बोली—“मालूम है अगर हमारे ‘वह’ इस समय यहाँ होते तो क्या कहते?”

मैंने पूछा—“क्या कहते?”

“यही कि आह! ऊँचाई ही चरम (या परम) सत्य है क्योंकि यहाँ से वस्तुएँ अपनी संपूर्ण क्षुब्धता में दृष्टिगोचर होती हैं।”

उर्मिला ने चेहरा गंभीर बनाकर भौहों में बल डालते हुए जिस अंदाज में यह बात कही, उसे देख सुनकर मैं बेसाखा हस पड़ा। मैंने कहा—“लगता है पंडित जी की अनुपस्थिति आपको गहराई से महसूस हो रही है। यही होता है जब आदमी सामने नहीं होता तो उसकी याद कुछ ज्यादा ही सताती है।”

“ये ल्लो इसमें याद सताने कहां से आ पहुँची! मैंने तो एक बात कही थी।”

“मैं भी तो एक बात ही कह रहा हूँ। तुम्हारे पंडित जी को पकड़कर सामने तो नहीं कर रहा हूँ।”

“मैंने प्रसंगवश एक बात कही थी—आप उसे पकड़कर ही बैठ गए। कई बार कुछ परिस्थितियाँ ऐसी दिखाई पड़ जाती हैं कि हम किसी का जिक्र कर बैठते हैं। इसमें लगाव या दराव वाली तो कोई खास बात होती नहीं है।”

“नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। हमारे अवचेतन में वही स्थितियाँ और लोग होते हैं जिन्हें अपनी समझ से हम बहुत गौण या साधारण खयाल करते हैं पर असल में वह हमारे मन में कहीं बहुत गहरे पैठे हुए होते हैं।”

“प्रभाकर जी! आप ठहरे लेखक। लेखकों का क्या है, वह हर बात में मनोविज्ञान लगाने बैठ जाते हैं।”

“क्या करे, लगाना ही पड़ता है। मन के विज्ञान या मन में ऊँभ-चूँभ होने वाली बातों से हम कैसे बच सकते हैं? हमारे जीवन का समस्त कार्य व्यापार तो मन की परिधि में ही आता है और मन द्वारा संचालित होता है। कहा जाता है कि किसी की हत्या करने का काम पहले हम मन में ही करते हैं और बाद में उसे वास्तविकता में अजाम देते हैं।”

“हो सकता है। ऐसा ही होता होगा।” उर्मिला भौहों में बल डालकर बोली।

“निश्चय ही ऐसा होता है। इसमें होता होगा के लिए कोई गुंजाइश ही बाकी नहीं है। हम मुँह से कहते चले जाते हैं कि हमें किसी की परवाह नहीं है पर जिसके प्रति यह लापरवाही का भाव शब्दों में व्यक्त होता है, हम निरंतर उसी के

विषय में सोचते चले जाते हैं। जब हमें देखकर कोई प्रशंसा या प्रसन्नता व्यक्त करता है तो हम भीतर ही भीतर खूब प्रसन्न और उत्साहित अनुभव करते हैं। उसकी श्रेष्ठता की कोई शिनाख्त हम नहीं कर पाते। उसकी साधारणता या असाधारणता से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। आपकी साड़ी, जूड़े में टके फूल या गले में पड़ी नकली मोतियों की माला को अगर कोई दिलचस्पी की नजर से देख भर लेता है तो आपको अपने होने की गरिमा महसूस होने लगती है। इसके विपरीत यदि कोई आपको देखकर उपेक्षा से मुह फेर लेता है तो आप उपेक्षित और अधमानित अनुभव करने लगती हैं। फिर इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह कौन है या उसका स्तर क्या है। किसी के इस प्रकार के व्यवहार से आपकी क्या कोई वास्तविक क्षति होती है?”

उर्मिला बोली—“मैंने इस पर कभी गहराई से कुछ सोचा नहीं है।”

“यह अलग बात है मगर व्यवहार में बहुत कुछ वह होता रहता है जो हम नहीं सोचते। स्थितियों को इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है कि आप क्या सोचते हैं। मैंने तो वह बात कही है जो लोक-व्यवहार से संबंध रखती है। यदि हम दूसरों की कतई परवाह नहीं करते तो फिर इतना बनते-सवरते किसके लिए है? मैं घर में जो कपड़े पहनकर स्वस्ति अनुभव करता हूँ उन्हें घर के बाहर निकलने से पहले क्यों बदल डालता हूँ? क्या आप घर से बाहर जाते समय चार साड़ियों में से उस एक खास साड़ी का चुनाव नहीं करती जो आपको बाहर जाते समय सर्वाधिक उपयुक्त लगती है—ग्लैमरस होने का भाव या भ्रम पैदा करती है। क्या आपका कभी मन नहीं होता कि आप अपने पति से यह पूछें कि मैं बाहर जाने के लिए आज कौन-सी साड़ी पहनूँ? अगर आपके पूछने पर वह यही उत्तर दे दें। ‘कोई सी पहन लो इससे क्या फर्क पड़ने वाला है।’ तो क्या आपका मन बुझ नहीं जाता। इस उत्तर से आप उपेक्षित अनुभव नहीं करती?” मैं जरा ठहरकर बोला—“कोई एक बात है इस छलिया मन की, हजार-हजार दास्ताने हैं देवी जी!”

उर्मिला ने मेरी ओर कटाक्ष करके कहा—“आपको तो नारी मन की राई रत्ती एक-एक खबर है। बता सकेंगे यह अनुभव आपको कहा-कहां से और कैसे-कैसे प्राप्त हुए हैं।”

“मैंने तो कभी यह दावा नहीं किया कि मैंने नारियों का कुछ भी नहीं जाना समझा। मैं कोई जगत् गुरु शंकराचार्य भी नहीं हूँ। आपके साथ हूँ तो आपके दाम्पत्य जीवन के भेद आपसे सीख रहा हूँ। इसी प्रकार सत्संग में मैं तुच्छ बुद्धि भी थोड़ा बहुत कुछ न कुछ जान ही लेता हूँ।”

“लेखक और कवि तो कल्पना से ही बहुत कुछ सीख जाते हैं। उन्हें जीवन के वास्तविक अनुभव करने की जरूरत ही क्या है?”

“ऐसा नहीं है। कोई बड़े से बड़ा रचनाकार भी अशरीरी नहीं हो सकता। देह प्रमुख है उसी से आत्मा चेतना-अवचेतना, स्वप्न और कल्पनाएं जुड़ी रहती हैं। हवा में कोई नहीं रह सकता।”

“आप शरीर को कितना महत्व देते हैं?”

“पूरा महत्व देता हूं। बल्कि यो कहा जाना चाहिए कि महत्व देना ही पड़ता है।”

“तो फिर देह को देह चाहिए ही यह भी आप मानते ही होंगे।”

“बिल्कुल मानता हूं पर साथ ही यह भी मानता हू कि मुझे मन की स्निग्धता के साथ देह अभीष्ट है—केवल देह का उपभोग नहीं किया जा सकता। वह तो सब कहीं उपलब्ध है और बहुत आसानी से प्राप्त की जा सकती है।”

उर्मिला कुछ क्षण ठहरकर सोचती रही और लंबी सांस खींचकर उदासी से बोली—“काश! लोग यही समझ पाते। हमारे समाज में तो औरत को केवल मांस पिंड का दर्जा हासिल है। मन के साथ उसे लेने-भोगने की किसे सुध है।”

मैं बोला—“सहवास निःसंग नहीं हो सकता।”

“लेकिन वस्तु जगत् में तो मैं यही देखती हू कि उसे बस एक दैहिक जरूरत भर माना जाता है।”

“वह तो पशु भाव ही हो सकता है। यदि हम दैहिक भोग को लेकर निःसंग हैं तो यह बहुत चित्य है। हम उन्नयन से मुंह मोड़कर पशु भाव की ओर वापस लौट रहे हैं।”

“यह जो हर छोटे-बड़े नगर में वेश्यालयों की संख्या निरंतर बढ़ती ही जाती है—इसके लिए आप क्या कहेंगे?”

मैं बोला—“छोटे-बड़े नगरों में ही क्यों, अब तो प्रच्छन्न रूप में गली-मोहल्लो तक में देह व्यापार हो रहा है।”

“फिर? आपका यह सोच क्या महत्व रखता है कि मन की तरंग और संगति से ही देह मिलन की सार्थकता है?”

मैंने उर्मिला के इस चुनौती भरे प्रश्न को कई क्षणों तक मन में गुना और मुझे लगा कि वह समाज शास्त्रीय मुद्दों पर गहरी नजर रखती है। उसके खुलेपन से मुझे रचनात्मक प्रेरणा मिली। मैंने कहा—“मन के सर्गीत से ही देह व्यापार जुड़े तो सार्थक है पर मनुष्य के जीवन में निरर्थकता और जड़ता का भी कम दखल नहीं है। हम

सब समाजचर्या से जुड़े हुए प्राणी है। जब तक हमारा सामाजिक परिवेश उदात्त मूल्यों से मण्डित नहीं होगा—हम बहुत कुछ निरर्थक करते रहेंगे और इसके साथ ही व्यर्थ भी होते चले जाएंगे।”

“आप व्यर्थ किसे समझते हैं? मेरे लिए जो कुछ व्यर्थ है क्या वही आपके लिए भी व्यर्थ है। सार्थकता और निरर्थकता भी तो अलग-अलग ढंग से परिभाषित की जा सकती है।”

“व्यर्थ वह द्रव्य है जिसे लेकर हम निरंतर जूझते रहते हैं और कहीं कोई किनारा नहीं पाते।”

उर्मिला मेरे तर्क पर हसने लगी—“यह तो कोई बात ही न हुई। द्रव्य से ऊपर कोन उठ सकता है? प्रायः हम वही करते हैं जिसको लेकर बाद में पछताते हैं मगर करते समय कभी बाट की नहीं सोचते।”

“पाशविक आनंद अपने आप में पछतावे की भूमिका छिपाए रखता है। जो मन चाहता है वही तो आनंद नहीं है—मन को भी संस्कारित करना होता है। मन तो बहुत कुछ और बहुत बार ऐसी आसक्तियों में डूबा रहता है कि उनकी अभिव्यक्ति घोर गर्हित रूप धारण कर लेती है।” मैंने अपनी बात को स्थूल रूप देते हुए हसकर कहा—“यह तो आपने सुना ही होगा—जिम्या ऐसी बाबरी बक गई सरग पतार, आप गई भज भीतरै जूता खाय कपार।”

मेरे कथन पर उर्मिला बच्चों की तरह ताली बजाकर हसने लगी। जब उसकी हसी थमी तो उसने पूछा—“यह तो आपने कमाल की बात कही—किसने कही है यह दुर्लभ बात?”

“किसी ने तो कही ही होगी। पर जिसने भी कही है सार्वलौकिक, सार्वदैहिक और सार्वजनिक बात कही है। हमारा मन कैसे-कैसे बेढंगे खेल खेलता रहता है, इसको चरितार्थ करने के लिए इससे आसान शब्द नहीं मिल सकते।”

हम लोगों को कुतुबमीनार पर खड़े-खड़े काफी वक्त निकल गया था। सच तो यह है कि हम दोनों बातों में इतने खो गए थे कि आस-पास के विषय में सब कुछ विस्मृत कर बैठे थे।

सहसा उर्मिला ने अपनी कलाई घड़ी पर नज़र डालकर कहा—“अय यह क्या? अब तो चार से भी ऊपर का समय हो गया। बातों-बातों में हम देशकाल के बारे में सभी कुछ भूल-भाल गए। अब हम लोग इस लाट से नीचे तो उतरे।”

मैं बोला—“चलिए। चढ़ने में ही देर लगती है। उतरने में क्या है—चुटकी बजाते उतर जाएंगे।”

उर्मिला हस पड़ी—“हा उतरने में क्या है। यही से छलांग लगा दे ता कुछ भी समय नहीं लगेगा।”

चेहरे पर वनावटी डर लाकर मैं बोला—“भगवान के लिए कहीं सचमुच ऐसा न कर बैठना। पंडित जी मुझे सूली पर लटका देंगे।”

“मेरे जाने से उन्हें क्या अंतर पड़ने वाला है और बहुतेरी अभागी पड़ी है इस दुनिया में।”

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं कहते। हम नहीं जान पाते कि हमारे न रहने से किस किसको कितना फर्क पड़ता है। अपनी अवमानना और आत्म-भर्त्सना कभी नहीं करनी चाहिए—इससे आत्मबल क्षीण होता है।”

मेरी बात सुनकर उसने अपने कंधे इस तरह सिकोड़े जैसे उसे सुबकी आई हो या कि एकाएक ठंड महसूस होने लगी हो।

मैं और उर्मिला ऊपर आते लोगों की भीड़ से रास्ता बनाते हुए नीचे उतरने लगे।

“...
कर
हैं?
कि
लेक
हर
कोई
पर
इसमें
है।”

लेखक
और
समग्र
समझ
खाई
अंकित
प्रमर्ष
किस
केया
लेए
क
टने
वेलक्ष
ने आ
ने दृष्टि

11

मैं और उर्मिला ने कुतुबमीनार से बाहर आने पर पंडित मुकुंद माधव को खोजने की कोशिश की पर वह आस-पास कहीं दिखलाई नहीं पड़े।

मैंने कहा—“उन्होंने खडहरो में विचरने की बात कही थी। देखें, कहीं उधर ही होंगे। वह कैफेटेरिया में तो बैठने वाले है नहीं। हो सकता है किसी चबूतरे या फसील पर बैठ सुस्ता रहे हों।”

हम दोनों बातें करते हुए आगे बढ़ते चले गए। कुतुबमीनार के चारों तरफ फैली भीड़ भी अब तक काफी कम हो चली थी इसलिए उनके भीड़ में गुम हो जाने की आशंका भी नहीं थी।

बहुत सिरमारी करने पर भी वह कहीं नजर नहीं आए तो मैं बोला—“लगता है पंडित जी इस जन-प्रवाह में कहीं खो गए हैं। उन्हें किस प्रकार खोजा जाए?”

इसी समय मेरी आंखें उर्मिला के चेहरे पर चली गईं। मैंने लक्ष्य किया कि उसकी आंखों में परेशानी उभर रही थी। मुझे लगा जैसे वह उनके खो जाने की बात से घबरा रही थी। मैंने उसे तसल्ली देते हुए कहा—“वह कोई छोटा सा बच्चा तो हैं नहीं कि कहीं खो जाएंगे। होंगे इधर-उधर ही, आ जाएंगे थोड़ी देर में।”

मेरी बात से उर्मिला की परेशानी कम नहीं हुई। वह यहा वहा देखते हुए बोली—“पर उन्हें होना तो यही चाहिए था। क्या उन्हें पता नहीं था कि हम मीनार से निकलकर आएंगे तो उन्हें कहां ढूँढ़ेंगे?”

मैंने उर्मिला को घबराहट से उबारने के लिए हसी में कहा—“लगता है पंडित मुकुंद माधव आपकी ज्यादातियों से घबराकर पलायन कर गए हैं। मुझे तो यहा कुछ नल-दमयंती वाला मामला नजर आ रहा है। बस इतना ही अंतर है कि नल अपनी

प्राण प्रिया का घर अरुण्य म साते छाड़कर भाग गया था और हमारे पड़ित जी दिन-दहाड़े हजारों की भीड़ में धता बनाकर गुम हो गए हैं।”

मेरी चुहलबाजी का उस पर कोई असर नहीं पडा। वह पूर्ववत् उदास और उखड़े मूड में ही नजर आई। उर्मिला एक समझदार पढी-लिखी आधुनिक महिला थी। मेरी कुछ समझ में नहीं आया कि वह उनको लेकर उतनी बेचैन क्यों हो रही थी। ज्यादा-से-ज्यादा वह घर लौटकर जा सकते थे। घर की चाभियों का उन्हें पता था ही कि जोखन जाते समय चाभिया किसको दे गया होगा। पर उसमें मुश्किल यही थी कि पनवाड़ी ने उन्हें घर की कुजिया नहीं सौपी तो उन्हें बाहर ही रहना पड़ेगा।

मैंने उर्मिला को घबराहट की मनःस्थिति से उबारने की कांशिश की—“अभी थोड़ी देर पहले हम लोग मीनार के ऊपर खड़े थे तो आप अच्छी-भली खुश खुरम थीं। मैं समझ नहीं पा रहा हू कि आपका मूड एकाएक कैसे उखड़ गया?”

वह इधर-उधर की टोह लेते हुए बोली—“नहीं नहीं, मैं परेशान उस वजह से नहीं हू कि वह खो गए हैं—या लौट गए हैं।”

“पर आपके चिंतायुक्त चेहरे से तो यही पता चल रहा है कि आप घबरा भी रही हैं और परेशान भी हैं।”

उसने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया और बोली—“क्या हम एक बार पूरी घेराबदी का चक्कर न लगा लें?”

“उससे कोई लाभ नहीं होगा। हम उधर दूर जाकर भटकते रहेगे और वह इधर से फिर कहीं खिसक लेगे। हम जिस जगह खड़े हैं, लोग इधर से ही बाहर जा रहे हैं। बाहर निकलने वाले रास्ते पर रहकर ही उनपर निगाह रखना ठीक होगा।”

“पर हम यहां भी कब तक खड़े रह सकते हैं। चलते-चलते वैसे भी काफी थकान हो रही है।”

“तो फिर सामने इस खुले रेस्त्रा में बैठकर कुछ चाय-वाय या ठंडा पीते हैं। आखें इधर रास्ते पर ही लगाए रहेगे।”

मेरे समझाने पर उसके चेहरे पर छाई हुई उदासी और परेशानी कुछ कम हुई और हम दोनों खुले हुए रेस्त्रा में जाकर कुर्सियों पर टिक गए।

पानी के गिलास रखने एक लडका हमारी तरफ आया तो मैंने उससे दो प्याले काफी लाने को कह दिया। उर्मिला की आंखें उधर रास्ते पर ही लगी हुई थी। मैं बोला—“आप खुश होती है तो बहुत अच्छी लगती हैं। इस तरह मुह लबा करके बैठ

ज्ञान में आपका सारा आकषण फीका पड़ जाता है। अगर आप विद्रूपों को काट सकने में समर्थ न हों तो भी उन्हें अपने ऊपर हावी तो न होने दें। आपके पति दार्शनिक हैं—पता नहीं किस राँ में किधर निकल गए हों। घूम फिर आखिर लौटेंगे तो आपके पास ही जैसे 'उड़ि जहाज का पछी पुनि जहाज पै आवे' वाली नियति को तो वह काट नहीं पाएंगे।"

उसने उदासी से मुस्कराकर मेरी ओर देखा तो मैंने परिहास में कहा—“मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं होगा यदि मुझे यह पता चले कि पंडित मुकुट माधव महारौली के जंगल में किसी चट्टान के पीछे खरगोश वगैरह के बिल में चितनशील बैठे हों।”

रेस्त्रां में हमारे आस-पास की कुर्सियों पर कितने ही विदेशी स्त्री-पुरुष बैठ चाय कॉफी और शीतल पेय पी रहे थे। उनमें से कोई भी उदास या चिंतित दिखाई नहीं पड़ रहा था। मैं उनकी ओर सकेत करके बोला—“उर्मिला जी, देखती है आप इन विदेशी सैलानियों को?”

“देखती तो हूँ पर उनमें देखने को ऐसा विशेष क्या है?”

“विशेष यह है कि वह इस देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। सात समुद्र पार करके आए हैं मगर उनमें से किसी के चेहरे पर उदासी और मलिनता नहीं है। इतनी दूर आकर भी उन्हें बेगानापन नहीं सताता। जहाँ जगह मिल जाती है वही वह रह और खा-पी लेते हैं। इसके विपरीत आप अपनी ही भूमि पर अपने ही देश में इस बुरी तरह उखड़ी हुई हैं जैसे आपको निष्कासित कर दिया गया हो। असल में हमारा दर्शन तो बात-चात में आनंद की दुहाई देता है और हम गमगीन और मनहूस बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। यह कभी नहीं सोचते कि रोने के बजाय थोड़ा से हसने और जीने के क्षण तलाश कर लें।”

बिना कहे ही वेटर काफी के प्यालों के साथ अच्छे बिस्कुटों की एक प्लेट भी ले आया तो मैंने उर्मिला से कहा—“देखा, वेटर कितना समझदार है कि काफी के साथ अपने आप ही बिस्कुट भी रख गया! उसने अपनी अंतःचेतना से समझ लिया कि आपको इतना घूमने-फिरने पर खूब भूख लग आई होगी।”

“खाक समझ लिया उसने मेरी भूख के बारे में। मालिक को यह दिखलाने के लिए वह ग्राहकों से कितना अधिक पैसा वसूल करवाकर मुनाफा दिला सकता है—इसी मारे महंगे बिस्कुट रख गया है।”

उसकी बात पर मैं हस पड़ा—“भई बाह! उस बेचारे की भलमनसाहत की प्रशंसा करने से तो गई, उल्टा उसे त्रासने लग पड़ी। कितनी भी सुंदर सुशिक्षित हो

जाएँ, आप लोग किसी के सुकर्म की तारीफ नहीं कर सकती।”

“आप तो हैं सबके सुकर्मों की तारीफ करने के लिए हम औरते कुछ भी हो—हम किसी को भरमाने की कोशिश नहीं करती—यह तो पुरुषों का ही जन्मजात स्वभाव होता है।

“लो भई, फिर हो गई पुरुष-पुराण शुरू। चलो काफी पीयो और बिस्कुट खाओ। फिर चाहे पुरुषों को गाली ही दो पर पेट में कुछ डालो तो सही।”

“यह सब आप ही खाएंगे। मेरा तो पेट दोपहर से ही इतना भरा हुआ है कि कुछ खाने का मन ही नहीं है।”

“खाने का मन नहीं है—इतना घूमने-फिरने और सैकड़ों सीढ़ियाँ चढ़ने उतरने के बाद भी?”

काफी खत्म करके मैं उठते हुए बोला—“अभी आप थोड़ी देर यहीं बैठे—मे कुतुबमीनार के आस-पास एक चक्कर लगाकर लौटता हूँ। शायद पंडित जी कहीं दिखाई पड़ ही जाएँ। आप निश्चित रहें। मैं पंडित जी की तरह आपको यहाँ छोड़कर जाने वाला नहीं हूँ। थोड़ा देर बाद घूम फिरकर लौट जरूर आऊंगा।”

उर्मिला बोली—“आपका मन है तो जरूर चले जाइए। पर वह अब आपको यहाँ कहीं मिलनेवाले नहीं हैं। वह यहाँ से काफी देर पहले ही चले गए होंगे।”

मैंने हैरत से उर्मिला का चेहरा देखा। मैंने पूछा—“यह आप कैसे कह सकती हैं कि वह यहाँ से चले गए होंगे? मैं नहीं समझता कि वह हमें यो छोड़कर चले जाएंगे और वह भी उस स्थिति में जबकि उन्हें पूरा पता है कि हम उनके बिना यहाँ से जाएंगे नहीं।”

“पर उन्हें तो हमारी कोई प्रतीक्षा नहीं थी।”

“अजीब बात कह रही है आप भी। भला उन्हें हमारी प्रतीक्षा क्यों न होगी? क्या उन्हें यह उम्मीद नहीं थी कि हम दोनों कुतुबमीनार देखकर बाहर आएंगे? वह ऐसा कभी नहीं कर सकते।”

“कभी कर सकते हैं या नहीं—यह मैं नहीं जानती। पर मैं अब निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि वह यहाँ थोड़ी देर रुककर ही चले गए होंगे।”

मैं अनिश्चय में पड़कर उर्मिला का चेहरा देखता रह गया। यह बात किसी भी कोण से मेरी समझ में नहीं आई कि बाहर से पत्नी के साथ आने वाला पति उसे किसी दूसरे आदमी के साथ यो छोड़कर चला जाए। वैसी दशा में तो यह और भी मुश्किल लगता है जब वह उसी आदमी के घर में मेहमान भी हो। इस तरह की

अभद्रता काड कर सकता है।

हालाकि विश्वास तो मुझे अब भी नहीं था कि पंडित मुकुंद माधव इतना घटिया आचरण कर सकते हैं तथापि मैंने कहा—“हां यह हो सकता है कि वह बुरी तरह थक और ऊब गए हों। उन्हें तो सुबह से ही दिल्ली का वातावरण रास नहीं आ रहा था।”

उर्मिला बोली—“पर बिल्कुल यही बात नहीं है। वैसे यह तो ठीक है कि वह घर से निकलना ही नहीं चाहते थे। आप उन्हें एक तरह से जबरदस्ती ही यहां तक खींचकर लाए थे। फिर भी सिर्फ ऊब इस पलायन का कारण नहीं है।”

मैंने फिर कोई खास कारण जानने पर जोर नहीं दिया। हो सकता है उसे उर्मिला न भी बताना चाहे।

अब मेरी आशा भी क्षीण पड़ गई थी इसलिए काफी के पैसे चुकाकर मैं और मल्लिका रेस्त्रा से निकले और सड़क पर आ खड़े हुए।

मैने एक ओटो रोककर उर्मिला से कहा—“चलो बैठो। हालांकि अब तीसरा पहर भी खत्म हो चला पर गर्मी का बुरा हाल है। हम लोग कनाट प्लेस में बैठकर कहीं कुछ ठंडा पीएंगे।”

उर्मिला बैठ गई तो मैं भी उसकी बगल में जाकर बैठ गया। उर्मिला के चेहरे पर चिंता छिपी हुई थी और वह एकदम चुपचाप बैठी थी।

कनाट प्लेस पहुंचकर हमने ओटो छोड़ दिया। मैंने उर्मिला से कहा—“मन हो तो कनाट प्लेस के बरांडों में घूमे। आप यहां से अपने काम की कोई चीज़ खरीदना चाहें तो वह भी ले सकती हैं।”

उर्मिला ने एक लंबी सांस खींचकर कहा—“आपका जहां भी मन हो चलिए। मैं तो अब एकदम खाली हो चुकी हूँ।”

मैंने चकित होकर उसे देखा। मेरी समझ में उसके खाली होने की बात नहीं आई। मैं बोला—“खाली होना तो कुछ बुरा नहीं है। क्या अब तक आप खाली नहीं थीं? क्या आपका संकेत भीतर के खालीपन से है?”

“मेरा तात्पर्य बाहर भीतर से ही क्या सब तरह से खाली होने का है। मैं तो अब एक पिन तक खरीद पाने की स्थिति में नहीं हूँ।”

“क्यों नहीं हैं कुछ भी—यानी एक पिन तक खरीदने की स्थिति में। आपका जो भी मन हो शौक से खरीद लीजिए।”

वह कनाट प्लेस के बरांडों में घूमती रही। मैंने देखा कि उसकी नजर बराबर कुछ तलाश कर रही थी।

“अब आप पंडित जी की खोज में हल्कान मत होइए। वैसे तो अब छोटी से छोटी जगह में भी सारी देशी-विदेशी चीजें पहुंच जाती हैं पर यहां आई है तो याद

भर क लिए हा कुछ ल लाजिए ।”

“मेरे पास खरीदने को उन्होंने छोड़ा ही क्या है। मेरा बैग और पर्स तो वह लेकर चले ही गए हैं।” फिर जरा ठहरकर उसने दुखी मन से कहा—“बल्कि अब तो मुझे यही लग रहा है कि मैं कुछ खरीद न लू, इसलिए मेरा पर्स भी ले गए हैं।”

उर्मिला की इस बात को सुनकर मैं सन्न रह गया। कोई पत्नी अपने पति पर इतनी सख्त टिप्पणी किसी बाहर के आदमी के सामने नहीं करती है। अब तो मुझे भी उसकी सोच सही मालूम पड़ रही थी। उर्मिला ने जब उन्हें अपना बैग दिया था तो उन्होंने उससे उसका पर्स भी ले लिया था। हाँ न हाँ वह पर्स पा जाने के बाद तुरत ही कुतुबमीनार के परिसर से निकल गए थे।

उर्मिला के इतनी देर से दुखी और तनावग्रस्त होने का कारण मेरी समझ में आ गया। पर्स के कारण ही वह महारौली से लौटने में इतनी देर लगाती रही थी। मैं इस बात को सोच-सोचकर हैरान हो गया कि उसके पति महाशय इतनी घटिया हरकत पर उतर आए।

यह एक बहुत बीहड़ और जटिल परिस्थिति थी। उर्मिला क्या कोई भी महिला ऐसी दशा में संतुलित नहीं रह सकती थी। उर्मिला का स्वयं को निरीह और अपमानित महसूस करना स्वाभाविक ही था। कोई पति बाहर के आदमी के सामने सरे आम यह आचरण करे और अपनी पत्नी का पर्स लेकर गायब हो जाए—तो वह बेचारी शर्म से गड़ नहीं जाएगी?

उर्मिला रुआसी हो रही थी और शर्म से उसका चेहरा लाल हो उठा था। अगर मैंने उससे कुछ खरीदने की बात न कही होती तो शायद वह आखिर तक पड़ित जी की इस निकृष्ट हरकत को मुझसे छिपाए रहती।

मैंने उसकी सहजता लौटाने का प्रयास किया—“यह शहर उनके लिए नया है, कहीं गड़बड़ाकर भटक भी तो सकते हैं। बहरहाल अब जो भी परिस्थिति है उसे लेकर चिंतित होने का कोई कारण नहीं है। मेरे पास काफी रुपये हैं। आपको कुछ भी खरीदने में असुविधा नहीं होगी। बल्कि कुछ-न-कुछ अवश्य खरीद लीजिए। मेरे लिए भी यह एक सुखद अनुभव होगा। मेरे साथ कोई महिला बाजार से कुछ खरीदारी करने जाए यह मेरे लिए एक गौरव की बात होगी।”

मेरे अनुरोध से उर्मिला के चेहरे पर हंसी की एक क्षीण-सी रेखा उभरी। वह मेरी आंखों में देखते हुए बोली—“बड़ी हौस है किसी महिला के साथ बाजार करने की?”

“बिल्कुल। यह भी एक अनूठी वासना है जो शायद सभी पुरुषों के मन में

होती होंगी।”

“यह आपका भ्रम है। सभी पुरुषों के मन में नहीं होती यह वासना। हमारे श्रीमान् जी को ही देख लीजिए। ऐन मौके पर कन्नी काट गए कि नहीं?”

“जब कोई युवती किसी की प्रेमिका होती है तो शायद उससे भाव-ताव करना नहीं आता। दुकानदार जो भी पैसे मागते हैं वह बिना किसी ऊहापोह के दे देती है पर क्या यही बात पत्नी बन जाने के बाद भी बाकी रह जाती है? मैं देखना चाहता हूँ कि भाव-ताव करने का कौशल आपमें अभी आ पाया या नहीं।”

“खरीदारी करते समय आपको मेरा भाव-ताव करना क्या पसंद आएगा? फिर मैं प्रेमिका की स्थिति में तो हूँ भी नहीं।”

मैंने पूछा—“कई बार हम क्या वह नहीं हो जाना चाहते जो हम वास्तव में नहीं होते?”

उसने मेरी बात का उत्तर न देकर पूछा—“अगर कोई युवती प्रेमिका बनने का सौभाग्य ही प्राप्त न कर पाए और इस सुखद संयोग से पहले ही उसका विवाह सपन्न हो ले तो उसके संबंध में आपका क्या विचार बनेगा?”

“मेरी दृष्टि में तो ऐसा कोई वर्गीकरण है नहीं। प्रेमिका और पत्नी दोनों अलग-अलग ध्रुवों की वासी मुझे नहीं लगती। जो एक बार प्रेमिका है वह पत्नी बने या न बने प्रेमिका तो बनी ही रह सकती है।”

“पर हर आदमी आपकी तरह कब सोचता है। अगर सोचे तो इतना निष्ठुर कैसे हो सकता है? आप भी पुरुष हैं। आप चाहे मेरी बात का बुरा माने पर मैं यह कहे बिना नहीं रह सकती कि पुरुष स्त्री से वैरभाव रखता है। वह कोई भी ऐसा अवसर नहीं गंवाना चाहता जहां स्त्री से बदला लेना संभव हो। स्त्री का समग्र निर्माण ही ऐसा है कि उसे आसानी से ठगा जा सकता है। कोई उसे आदर्श पुरुष बनकर ठगता है तो कोई डाकू, लुटेरा बनकर। मेरी समझ में तो स्त्री के सदर्भ में राम और रावण की मानसिकता में भी कोई खास फर्क नहीं है।”

“अब आपने तो कोई ऐसा विकल्प ही नहीं छोड़ा कि बचकर निकला जा सके। जब डाकू और साधु-रावण और राम एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिए गए हों तो मैं अब स्वयं के बारे में क्या सफाई दे सकता हूँ। इस समय तो यही विकल्प शेष है कि एक रावण हृदयपटल से हट गया है—चाहे तो उसे डाकू ही कह लें और उसके एक स्थानापन्न से ही काम चलाइए। अब यह मानकर चलें कि वह आपका पर्स मेरे पास छोड़ गए हैं।”

“सवाल सिर्फ पर्स का नहीं है। वह तो एक प्रतीकात्मक वस्तु है। असल बात

तो उस मानसिकता की है जो निकृष्टता की ओर सकेत करती है।”

“नायक मे भी बहुत बार खलनायक छिपा होता है।” कुछ आगे बढ़कर एक रस्त्रा दिखा। मैंने कहा—“वाकी बातें बाद में होती रहेंगी। कुछ खा पी लिया जाए।”

“अरे अभी-अभी तो वहा कुतुबमीनार पर काफी और बिस्कुटे ली थी। इतनी जल्दी पेट में कहा से जगह बन जाएगी।”

“आपको संतोष धन की जरूरत है और मुझे कुछ खाने की। मैं दिन में कई बार कुछ-न-कुछ खाता रहता हू—बिल्कुल बच्चों की तरह।”

उसे जैसे कुछ याद आया तो वह बोली—“अरे हां आपने तो सुबह घर से निकलते समय भी कुछ अधिक नहीं लिया था। मैंने उस तरफ ध्यान ही नहीं दिया। चलिए-चलिए कुछ जरूर खा लीजिए। कभी-कभी आदमी अपनी छोटी-सी चोट को लेकर इतना व्यस्त हो उठता है कि बड़े-बड़े घावों से बेखबर हो जाता है। पर्स गया तो गया उसकी कोई बात नहीं है। वह तो मिल ही जाएगा।”

“उस बात को भूल जाइए। उससे कटुता ही बढ़ेगी।”

बातें करते-करते हम रींगल सिनेमा के सामने जा निकले। मैंने कहा—“अब हम गेलार्ड तक आ पहुंचें हैं। यही कुछ देर बैठ लेगे। थोड़ी देर सुस्ता लेगे और गर्मी से भी थोड़ी देर के लिए निजात मिल जाएगी।”

गेलार्ड में दाखिल हुए तो वहां उस समय भीड़ बिल्कुल नहीं थी। डिनर लेने वाले अभी दूर में पहुंचने वाले थे। वहां अच्छा खुशगवार वातावरण था और हल्के-हल्के एक धुन बज रही थी। मेजों पर सफेद बुराक बिछे हुए मेजपोश चमचमाती हुई कुर्सियां और बावद, मुस्तैद बैरे सभी वहां की शालीनता के सूचक थे।

मैं और उर्मिला कोने की एक मेज घेरकर बैठ गए। मैंने मीनू उठाकर उस पर एक सरसरी नजर डाली और उसे उर्मिला की तरफ बढ़ाते हुए बोला—“आप ही देखिए और बताइए इस सूची में हम लोगों के लिए क्या सर्वोत्तम है।”

“इन बड़े-बड़े और भारी भरकम खाने-पीने की वस्तुओं के नाम और गुण भला मैं कैसे पहचानूंगी? आपका जो मन हो मगा लें। मेरे लिए तो इस जगह बैठ जाने का सुख ही पर्याप्त है।” कहते हुए उसने मीनू मेज पर ही रख दिया।

“मैं ही कौन यहां रोज-रोज आता हू जो सारी चीजों के नामों और गुणों का विशेषज्ञ होने का दावा करूं! कभी-कभार यों ही किसी के साथ आना हो जाता है और जो दूसरे खाते-पीते हैं वही मैं भी ले लेता हू।”

“वस्तुओं का गुण दोष पहचानने की किसे सुध है, बस बहुत-सा रुपया होना चाहिए—ग्लैमर खरीदने के लिए। मोटा पैसा अपने आप में एक अलग-तरह से

रेखांकित होने वाली कल्चर है।” उर्मिला ने दीवारों पर डधर-उधर नजर डालते हुए कहा।

मैं हसकर बोला—“आपने सूत्र रूप में बहुत बड़ा सत्य कह दिया। दरअसल यह युग एक तरह से वल्चर-कल्चर का ही है।”

उसने कुछ न समझने का भाव दिखाते हुए पूछा—“यह कौन-सी नई कल्चर पैदा हो गई?”

“इसे आप एकदम से नई न समझे—वही पुरानी भोग-लिप्ता है। गिद्ध जैसे मृत-पशु के शव पर टूट पड़ते हैं उसी प्रकार भोगवादी किसी तरह का प्रतिकार न कर सकने वाली जड़ वस्तुओं पर टूट पड़ते हैं। उसे अपनाते समय उन्हें इस बात का भी खयाल नहीं रहता कि वह उनके लिए कितनी उपयोगी है। व्यर्थ हो तब भी उसे अपने पास सजाकर रखेंगे। मसलन उन्हें एक कार की जरूरत है मगर वह एक दर्जन खरीद डालेंगे।”

“फिर तो वह गिद्धों से भी गए बीते हैं। बल्कि कहना होगा, गिद्धों से उनकी तुलना करना बेचारे गिद्धों का भारी अपमान है। वह तो मृत लाश को ही खा-पीकर निपटा देते हैं और इस तरह वातावरण को दूषित होने से भी बचा ले जाते हैं। यह आपके नव-धनाढ्य तो मलिनता के अतिरिक्त कुछ पैदा ही नहीं कर सकते। आप कहीं तीर्थ स्थलों पर जाकर देखिए नदी-झरने-झील तक शराब की बोतलों-बकरो, मुर्गियों की हड्डियों और तरह-तरह के रैपरो से पटे पड़े मिलेंगे। यही हाल हिल-स्टेशनों का हो चला है। जहाँ देखो, गंदगी-गंदगी और दुर्गंध।”

मैं बोला—“जिस पैसे को अर्जित करने के पीछे कोई कठिन श्रम नहीं होता वह निकृष्ट श्रेणी के भोगों में ही उड़ जाता है।”

“यह विचित्र गोरखधंधा है जिसे मैं तो कभी नहीं समझ पाती कि कुछ लोगों पर इतना अकूत रुपया आता कहाँ से है।”

“इसे समझने के लिए कोई सिर खपाने की जरूरत नहीं है। जिनकी देर में तुम पैसा कमाने का एक तरीका समझ पाओगी उतने समय में दस और नए तरीके ईजाद हो जाएंगे। कुछ वर्षों पहले तक जायज पैसे के अलावा गलत तरीके से अर्जित रुपये को ‘नबर दो का पैसा’ कहा जाता था मगर अब तो हर रोज एक नया चक्कर पैदा हो रहा है। हम लोग उतने तरीकों को जिंदगी भर नहीं समझ सकेंगे जिनका धन पशु रोज नया नया आविष्कार करते हैं।”

वह मुस्कराकर बोली—“एक-दो के बारे में तो आप भी जरूर जानते होंगे।”

“वह कैसे?”

“क्योंकि आप एक औद्योगिक नगर में रहते हैं—और दिल्ली के इतने पास हैं।”

“हमारे नगर में तो पिछले कुछ वर्षों से एक ही धधा सबसे अधिक पनपा है। कल-कारखाने वाले उद्योग भी उसके सामने फीके पड़ जाते हैं।”

“ऐसा कौन-सा नया उद्योग पैदा हो गया आपके शहर में?” उसने उत्सुकता से पूछा।

“अरे वही तो एक नया धधा है जिसे फिरौती कहते हैं। किसी मोटे पैसे वाले को कार में डालकर कहीं ले गए और घरवालों को धमकी देकर मनचाही रकम वसूल कर ली। अब यह फिरौती करोड़ों तक जा पहुँची है। किसी उद्योगपति का बेटा या भाई उठा लिया जाता है या कभी उसी को उठा ले जाते हैं। साथ ही सावधान कर देते हैं कि पुलिस के कानों तक इस घटना की खबर तक नहीं पहुँचनी चाहिए अन्यथा उठाए हुए व्यक्ति की हत्या निश्चित है। इस धंधे को शिखर पर पहुँचने में समय भी कुछ ज्यादा नहीं लगा। यही पाँच-सात साल। इसमें नए-नए आविष्कार और धाराएं उपधाराएं रोज जुड़नी चली जाती हैं। एक नयापन तो यह आया है कि उठाया हुआ व्यक्ति उनसे सुलह सफाई करके उन्हें अपने घर ले जाता है। अपने पोश ड्राइंगरूम में बिठाकर उन्हें भरपेट खिलाता-पिलाता है और वांछित दक्षिणा देकर विदा कर देता है।”

उर्मिला ने टिप्पणी की—“इस तरह से भी तो समाजवाद आ रहा है। मजदूर हड़ताल करते हैं तो मिल मालिक उन्हें भूखा मारते हैं। पुलिस उन पर गोली डे बरसाती है। उनके मुकाबिले यह धंधा ज्यादा आसान है कि सेठ जी को उठाओ और बदले में करोड़ों ऐंठ लो। मेरा खयाल है आने वाले वर्षों में यही उद्योग सबसे ज्यादा पसंद किया जाएगा और इसका खूब विकास भी होगा।”

“बेयरा पानी के गिलास रखकर जा चुका था। मैंने उर्मिला से कहा—“अब अगर जल्दी से आर्डर नहीं दिया गया तो बेयरा भी शायद ‘किडनैपिंग’ (अगवा) पर उतर आएगा।”

इस बार बेयरा आर्डर लेने आया तो मैंने मीनू पर सरसरी नजर डालते हुए आर्डर दे दिया और बोला—“ज्यादा न सही, इस जमाने से सुविधाएं जुटाने के लिए कुछ धन तो जरूर ही चाहिए।”

“यही जमाना क्यों, कौन-सा युग ऐसा था जब सुविधाएं प्राप्त करने के लिए कुछ अतिरिक्त धन की जरूरत पड़ती थी।”

“आप ठीक कहती हैं। सभी युगों में रुपया बड़ी शक्ति रहा है। सभी गुणों

का काचन (सोना) में निवास बतलाया गया है। वस फर्क इनका हा है—पहले दिनों में धन की सम्पन्नता के साथ श्रेष्ठ संस्कारों की भी कद्र थी। आज की तरह धन तब संस्कृति का पर्याय नहीं था। आज धन अर्जित करने की संस्कृति बदल गई है। कोई यह नहीं जानना चाहता कि आपने दौलत किस ढंग से कमाई है या कि इकट्ठी की है। रुपया-पैसा अब साधन नहीं साध्य का दर्जा पा गया है।”

“इसीलिए नव कुबेरों का हमारे समाज में एक अलग वर्ग तैयार हो गया है। महाजनो येनो गत. सपथा का अर्थ अब यही है कि धनपति जिस मार्ग पर चले हम भी अनुकरण करें। सब छोटे बड़े अधाधुध येन-केन प्रकारेण रुपया ही रुपया चाहते हैं।”

उर्मिला बोली—“अपने संस्कारों और परम्पराओं से कटते चले जाने पर तो यही होगा।”

इसी समय बेयरा खाद्य वस्तुओं से भरी ट्रे लाया और एक-एक प्लेट निकालकर मेज पर सजाने लगा।

मै बोला—“अब हम बहस करते चलें और कुछ खाते भी रहे।”

“आप परम्पराओं पर कुछ कह रही थी।” कहकर मैंने एक स्लाइस उठाई।

“परम्पराओं की बातें करना एकदम बेमानी है। उसकी जरूरत किसे है? हम लोग तो धीरे-धीरे अमर बेल जैसे होते जा रहे हैं। जिस तरह वह हरे-भरे वृक्षों पर फेलकर उनका रस चूस जाती है और उसकी जड़ कहीं नहीं होती उसी तरह हमारी अपनी जड़ें भी अब कहीं नहीं रह गई हैं। भोग और केवल भोग यही तो हमारी एक मात्र दृष्टि रह गई है इन दिनों।”

“इसीलिए शायद मनीप्लाट सबसे आकर्षक हरीतिमा का प्रतीक बन गया है। उसे भी अपनी जड़ों को कहीं जमाना नहीं पड़ता—वह हवा पानी से ही लहलहा उठता है।”

“आप बौद्धिकों को इस दिशा में कुछ करना चाहिए। अतएव समाज को सही दृष्टि तो आप लोग ही देते हैं।” शीतल पेय की एक घूट भरकर उर्मिला ने गिलास मेज पर टिकाते हुए कहा।

“बौद्धिकों की आज कौन सुनता है? उनका स्वर इस नक्कार खाने में किसी के कानों तक नहीं पहुंचता? सारा देश जिस मारक नशे के प्रभाव में डूबा हुआ है वह नशा कोई नहीं तोड़ सकता। अब तो सब कुछ समय के ऊपर है कि वह क्या करवट बदलता है।”

उर्मिला बोली—“ऐसी बात नहीं है। आपको अपनी शक्ति को पहचानकर

हस्तक्षेप करना चाहिए। गहरे नशे में डूबे हुए लोगों को झिंझोड़कर जगाना पड़ता है। निर्माण की दिशा में सतत अग्रसर रहते ही कुछ हो सकता है। थककर बैठ जाने से तो कुछ भी नहीं होगा। आज सत्ता पर जो लोग हावी हैं क्या उन्हें इसी तरह बरदाश्त किया जाता रहेगा?”

मैंने देखा, उर्मिला थोड़ी देर में ही एक अलग तरह का व्यक्तित्व धारण कर चुकी थी। अपने पति की नीचता भुलाकर वह गहरे सामाजिक प्रश्नों से जूझ रही थी।

नाश्ता खत्म हुआ तो उर्मिला के चंहरे पर फिर वही पहले जैसा मलाल उभरने लगा। अपनी आदत के वशीभूत उसने अपना पर्स तलाशना शुरू कर दिया मगर संभवतः वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाने पर बोली—“अब तो सब जगह आपको ही पैमेंट करने होंगे।”

मैंने उसकी बात को अनसुना करते हुए बेयरा के लाए हुए बिल का भुगतान कर दिया और बोला—“चलिए चलते हैं। हमें मिटो ब्रिज से कोई गाड़ी मिल जाएगी।”

हम दोनों गेलार्ड से बाहर निकले और कनाट प्लेस के बराडों में होते हुए मिटों ब्रिज की ओर बढ़ लिए।

सुपर बाजार के सामने से निकलते हुए मुझे सहसा याद आया कि उर्मिला ने पर्स पास में न होने की वजह से दिल्ली में कोई खरीदारी ही नहीं की थी। मैंने उससे इस सबध में कुछ भी न कहकर एक ऑटो रोका और उर्मिला से उसमें बैठने को कहा। जब वह सीट पर बैठ गई तो उससे थोड़ा हटकर बैठते हुए मैंने ड्राइवर से करोलबाग चलने को कहा।

जब स्कूटर चल पड़ा तो मैं उर्मिला से बोला—“कनाट प्लेस के तो सभी शोरूम आज बंद थे मैंने पहले इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया था। अब हम करोलबाग चल रहे हैं—वहां की दुकानें खुली होंगी।”

“मगर क्यों? वहां जाकर हमें क्या करना है? वहां जाना एकदम फिजूल है। मैं तो कुछ लेना ही नहीं चाहती।”

“अरे भाई चलो तो पहले। वहां देखना, कितनी अच्छी-अच्छी साड़ियां कितने सस्ते पैसों में मिल जाती हैं। आप लोगो को जितनी वैरायटीज़ चाहिए, सभी वहां एक साथ मिल जाएंगी।”

उसने मुस्कराकर पूछा—“क्या आप वहां साड़िया खरीदने के लिए जाते रहते हैं?”

“साड़िया खरीदने न सही—खरीदने वालों को तो देखता ही रहता हूं। कई बार मित्रों और उनकी पत्नियों के साथ भी जाना पड़ जाता है।”

उसने चुहल में कहा—“वे बड़ी भाग्यशाली हैं जिन्हें आप वहां से साड़ियां दिलवाते हैं।”

“आप सरासर गलत बयानी पर उतर आई है—मैं किसी को साड़िया नहीं दिलवाता। वह लोग स्वयं ही खरीदती हैं।”

“लगता है साड़ियों के बाजारों से आपका अच्छा परिचय है।”

“अगर दलाली का धंधा करता तो अच्छी कमाई कर सकता था पर कलम घिसुओं से वह भी कहा सध पाता है।”

“पर आज तो आपको नुकसान ही नुकसान है हर तरह से।”

“आप इसकी फिक्र न करें। वक्त आने पर मैं मयसूद सब वसूल कर लूंगा।”

“देख लीजिए—कभी वाद में आपको पछताना न पड़े। हो सकता है मुझे एक साथ कई साड़ियां पसंद आ जाए।”

“उतना ज्यादा डराने की कोशिश न करें। मैं भी कुछ पैतरे तो जानता ही हू।”

“जैसे?”

“मैं कह सकता हू कि फलानी स्टेट की हर हाई नैस हैं। मैं इनका सेक्रेटरी हू। बाकी पेमेंट का चेक दे दिया जाएगा।”

“जी हां, इस बात पर तो जैसे सभी यकीन कर लेंगे। मुझे देखकर कौन गच्चा खा सकता है? सूरत सीरत दोनों ही मेहतारानियों जैसी है।”

“लीजिए अब तो आप खुद ही महारानी से भी बड़े पद महतरानी, पर जा बैठें।”

“कुछ नहीं होता अपने आपको महतरानी या महारानी कह लेने से। जो मैं हू वही रहूंगी।”

“दिल्ली में पैसा गौण है—हवा मुख्य है। हवा बांध ले बस, उसी से बड़े से बड़ा काम निकल जाता है। यह बात अलग है कि अपने हाथ हवाएं भी नहीं आती।”

“हवाएं पकड़ना छोड़कर कोई ठोस आधार क्यों नहीं पकड़ लेते?”

“वह भी करके देख लिया। किसी ठोस आधार को पकड़ने की कोशिश करता हू तो पता चलता है उसे भी कोई पहले से हथियाए बैठा है।”

इसी समय सड़क पर ऑटो रिक्शा उठला और मैं उर्मिला से टकरा गया।”

उर्मिला हंसकर बोली—“अपनी तरफ से आप काफी बचकर बैठे थे मगर सड़क को शायद यह मंजूर नहीं था।”

“यह स्पीड ब्रेकर की वजह से हुआ शायद। वैसे यहाँ की सड़कें इतनी बुरी नहीं हैं।”

“गति को नियंत्रित करने के लिए भी धीरज चाहिए। अगर उसे एकाएक काबू में करने की कोशिश की जाती है तो गति भी विद्रोही हो उठती है।”

“गति की तीव्रता तो हमेशा खतरनाक होती है।”



उर्मिला बोली—“तीव्रता का नियंत्रित न किया जाए तो वह अधूरपन में ही समाप्त हो जाती है।”

“वह कैसे?” मैंने कुछ भी न समझकर पूछा।

“उसे मैं शायद आपको ठीक से समझा नहीं सकती। वह सक्रियता से जुड़ी हुई चीज है। दह का सत्य है यह—आप कैसे जान पाएंगे?”

मैं उससे कुछ और पूछता उससे पहले ही करोलबाग आ गया। मैंने ऑटो का किराया चुकाया और उर्मिला से बोला—“चलिए यह यहाँ का संभवतः सबसे मशहूर और काफी फैला हुआ कपड़ा बाजार है—आप यहाँ से कुछ अच्छी साड़ियाँ खरीद सकती हैं।”

उर्मिला अन्यमनस्कता से बोली—“मुझे कोई साड़ी-वाड़ी नहीं खरीदनी है जी। मेरे पास ढेरों साड़ियाँ हैं। आप बेकार ही इधर आए। अब हम लोगों को घर लौटना चाहिए।”

“अभी तो शाम ही है—वैसे भी गर्मियों की शाम बहुत देर तक ठहरी रहती है। आप एक दो साड़ियाँ दिल्ली आने की यादगार स्वरूप ही खरीद ले।”

“अगर आप साड़ियाँ खरीदने में मेरी मदद करें तो मैं कुछ खरीदने के बारे में सोच सकती हूँ।”

“चलिए यही सही। मगर मेरी एक मुश्किल यह है, मुझे जो भी चीज एक बार पसंद आ जाती है मैं उसी पर हाथ रख देता हूँ और फिर दूसरी की तरफ आख उठाकर देखता भी नहीं हूँ।”

“औरतें और चाहती ही क्या हैं। पहली पसंद पर वह भी जान छिड़कती हैं। आप एक बार यही करके तो देखें।”

“मैंने महसूस किया, बात साड़ियों से इतर जा रही थी। साड़ियाँ तो बस एक बहाना भर थीं।

जब उर्मिला मुझसे बाहर पेटमेंट पर खड़ी बातें कर रही थी तो किसी साड़ी एम्पोरियम का आदमी हमारे पास आकर बोला—“बाबू साब आपको बढ़िया और एकदम नई स्टाइल की साड़ियाँ खरीदनी हों तो मेरे साथ चलिए। मैं वाजिब दामों में आपको एक से एक अच्छी साड़ी दिलवा दूंगा।”

मैंने घड़ी देखी। साढ़े सात बजने जा रहे थे। मैं उर्मिला से बोला—“चलिए जल्दी से कुछ देख डालिए वरना फिर दुकानें बंद होनी शुरू हो जाएंगी।”

मैं और उर्मिला उस आदमी के साथ चल पड़े। उर्मिला साड़ी एम्पोरियम के भीतर जाकर मेरे साथ एक गद्दीदार कुर्सी पर बैठ गई। जो आदमी हमें साथ लेकर

गया था उसने दुकान के मालिको से साड़ियां दिखलाने के लिए कहा।

बात की बात में कितनी ही साड़ियो का हमारे सामने ढेर लग गया। उर्मिला न मुस्कराकर मेरी ओर देखा और बोली—“अब आप अपनी एक मात्र और पहली पसंद पर हाथ रख दीजिए। मैं ज्यादा साड़ियो को क्यों उलटू-पलटू।”

“पहले तो आप ही अपना हाथ रखिए। देवियां प्रथम वाली बात पर मेरी पूरी आस्था है।”

उर्मिला ने चंदेरी की एक साड़ी छूकर कहा—“बताइए कैसी है?”

“एकदम फर्स्ट क्लास और नफीस है। आपको फबेगी भी खूब।”

“बस तो मेरे लिए यही सर्वाधिक मूल्यवान है।”

मैंने उसे उठाकर सेल्समैन की ओर बढ़ा दिया और बोला—“इसे फौरन पेक कर दीजिए।”

मैं बोला—“इसी तरह किसी और पर भी तो हाथ रखिए।”

“एक ही बहुत है। साड़ियो की तो मेरे पास कोई कमी नहीं है। बस यह आपके साथ यहा आने की यादगार समझूगी।”

“यादगार वाली बात तो अपनी जगह ठीक है पर वह भी क्या औरत हुई तो महज एक साड़ी खरीदकर सतुष्ट हो जाए? मैं जानता हूं कि औरतों के पास साड़ियो का अबार लगा होता है पर साड़ियां और आभूषण उनके लिए कभी पर्याप्त नहीं होते।”

दुकानदार ने मेरी बात सुनी तो वह विहंसकर बोला—“भैन जी ऐसा पति कहा मिलता है जो अपनी वाइफ को साड़ियां खरीदने को उकसाए। यहा तो बहुतेरे ऐसे आते है कि जब उनकी जनानी साड़ियां छोट रही होती है तो शोरूम के बाहर जाकर टहलने लगते हैं। बिचारे दिल पर पत्थर रखकर अपनी घरवाली के साथ आते है।”

दुकानदार की टिप्पणी सुनकर मैं सकपका गया। मैंने बहुत नामालूम ढंग से उसकी ओर चेहरा घुमाया तो देखा उसका चेहरा शर्म से गुलाल जैसा रक्तिम हो उठा था। बेचारे दुकानदार को क्या पता था कि उर्मिला मेरी कौन थी। उसने अनुमान से ही हम दोनों को पति-पत्नी समझ लिया था।

मैंने उर्मिला के चेहरे की ओर से नजर हटाकर कहा—“तो जनाब अब मैं भी बाहर जा रहा हूं। इन्हे अब अपनी ही पसंद की साड़िया खरीदने दी जाए।”

वह बोला—“नहीं जी। आप बाहर क्यों जाएंगे? इन्होंने तो यह साड़ी भी आपकी पसंद पर ही खरीदी है। बाहर जाकर तो आप हमारा नुकसान ही करेगे।”

उर्मिला खड़ी होते हुए बोली—“नहीं, नहीं अब और कोई साड़ी-वाड़ी नहीं

खरीदी जाएगी।”

मैने भी अब और ज्यादा जोर देना ठीक नहीं समझा और जेब से पर्स निकालकर साडी की कमात का भुगतान कर दिया।

हम दुकान से बाहर निकलकर फुटपाथ पर चलने लगे। उर्मिला के हाथ में साडी का पैकेट था और वह बिल्कुल चुप होकर मेरे साथ चल रही थी। शायद दुकानदार के शब्दों से वह मुक्त नहीं हो पाई थी। मैने भी उसे नहीं छेडा और कुछ दूर तक चुपचाप उसके साथ चलता रहा।

जब चुप्पी मनहूस लगने लगी तो मैं बोला—“दरअसल जिन लोगों से हमारा कोई परिचय नहीं होता वह महज अनुमान के सहारे सबध निर्धारित कर लेते हैं।”

उस समय उर्मिला की मनःस्थिति शायद मेरी बात का आशय पकड़ने की नहीं थी। वह सिर झुकाए-झुकाए ही बोली—“बाहरी चीजे ही तो वह माध्यम हैं जिनको पकड़ा जा सकता है। भीतर की स्थितियों को जानने का बाहर के लोगों के पास उपाय ही क्या है। इस दुनिया में सबध हमेशा दो स्तरों पर चलते हैं—एक वह जो होते हैं—दूसरे वह जो समझे जाते हैं।”

“हा वही तो मैं भी कह रहा हूँ। अब इस साडी वाले दुकानदार को ही लो। हम दोनों के वह सबध नहीं है जो वह भला आदमी सहज रूप से खयाल कर रहा था।”

“उसका ऐसा समझना गलत भी क्या था? उसने अपने ढंग से तो सही ही समझा। पति के अलावा मेरे जैसी औरत को साडी दिलवाने के लिए प्रेमी कहा स आएगा।”

“स्वयं को अवमूल्यित करना क्या जरूरी है? आपमें ऐसी क्या कमी है जो आपको कोई प्रेम नहीं कर सकता? मैं जितनी देर से साथ हूँ आपको बराबर आत्मभर्त्सना की मनःस्थिति में देख रहा हूँ।”

उर्मिला मुंह से तो कुछ नहीं बोली पर उसने चेहरा दूसरी ओर घुमाकर अपनी आखे पोंछ ली।

मैने उसके कंधे को हल्के से छूकर कहा—“उर्मिला मेरी बात का बुरा मत मानना। मैं आत्म प्रताड़ना बिल्कुल नहीं सह पाता। तुम्हारी जैसी बहादुर लड़की पता नहीं क्यों अपना मूल्य इतना कम आकती है। तुम स्वयं को भारी नहीं समझोगी तो और कोई भी तुम्हें तुम्हारा सही स्थान नहीं बता पाएगा।”

“दुकानदार ने जो कहा मैं उससे कतरई भी आहत नहीं हूँ। हमेशा चीजों का अर्थ वही नहीं होता जो समझा जाता है। मोटे तौर पर बहुत कुछ परिभाषित होता

रहता है। अलग-अलग स्थानों और परिस्थितियों में हम बहुत कुछ तो अपने अनुमानों के सहारे ही ग्रहण करते हैं। फिर वह पंडित मुकुंद माधव की ओर मुड़ गई—“इतना गर्हित कर्म भी भला कोई किसी के साथ करना है?”

“आज जो आपके साथ हो चुका है, क्या उस दरगुजर करने का कोई उपाय बाकी नहीं है? अगर आप उसी कचोट को बार-बार दुहराती चली जाएंगी तो सिवाय दुःख भुगतने के आपके हाथ और कुछ भी नहीं लगेगा। अब उस बाल को एकदम से भुला डालिए।”

उसने मेरी ओर गहरी और चुभती हुई नजर से देखा और बोली—“आपके साथ जो गुजरता है उसे विस्मृत करके क्या आप कोरा कागज हो सकते हैं? मस्तिष्क का सहज धर्म तो यही है न कि जो आपके साथ हो रहा है उसी को लेकर आप दुखी या प्रफुल्लित होते रहें। हर क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। कोई लाख उसके प्रभाव को दूर करना चाहे पर वह छूत की तरह लगकर रहता है। इसमें लाभ-हानि का भी कोई प्रश्न नहीं है।”

मैं बोला—“मगर कड़वी स्मृतियों से पिंड छुड़ाने की कोशिश तो करनी चाहिए।”

“यह मनुष्य के हाथ में नहीं है। इस काम को समय ही कर सकता है। पशु-पक्षी जिस शाप से बचे हुए है प्रकृति ने मनुष्य को उससे नहीं बचाया बल्कि वही सबसे अधिक अभिशप्त है स्मृतियों को लेकर वह अहरह अपनी स्मृतियों में ही जीता है। दुःखदायी स्मृतियां मन पर चट्टान की तरह भारी बनकर बैठ जाती हैं। मैं तो फिर भी एक अत्यंत मामूली औरत हूँ। अच्छे-बुरे अनुभवों से उबर भी सकती हूँ पर आप तो रचनाकार और शब्द शिल्पी हैं—आप अच्छी-बुरी स्मृतियों से पल्ला झाड़कर कैसे अलग हो सकते हैं। यों सोचते चले जाने से भी समस्याओं का कोई निदान नहीं मिलता है—तो भी सोचने से बचा तो नहीं जा सकता।”

“तुम्हारी बात से मुझे कब इनकार है। मैं स्वयं ही छोटी-छोटी मामूली बातों और समस्याओं से व्यथित हो उठता हूँ। बल्कि जो मुझे औरों के लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखते वह मुझे अच्छा खासा तंग कर डालते हैं।”

“घटनाओं को वह लोग आपकी तरह खुरबचीन से नहीं देखते होंगे और उन्हें उसकी जरूरत भी क्या है? जो बहुत-सी बातें केवल उनके लिए साधारण जानकारी की श्रेणी में आती हैं वही आपके लिए न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण हो उठती होंगी।”

“सबकी परिस्थितियां अलग-अलग होती हैं। हम सब उनसे अलग-अलग तरह से जूझते और निपटते हैं। सच पूछा जाय तो हमारा सारा जीवन ही परिस्थितियों

और संयोगों का ताल-मेल है। हम चलते किसी एक मार्ग पर हैं पर संयोग और परिस्थितियाँ पता नहीं धकेल-धकालकर हमें कहां से कहा ले जाती हैं।”

मेरी बात सुनकर उर्मिला चलते-चलते ठहर गई फिर हसन हुए चल पड़ी। मने पूछा—“ऐसा क्या याद आ गया जो तुम चलते-चलते ठहर गई और एकाएक हसने भी लगी।”

“एक मार्ग पर चलते-चलते ढेढ़े-मेढ़े रास्तों पर जा निकलने पर मुझे एक दृश्य याद आ गया।”

मैंने उत्सुकता दिखाई—“मुझे भी बतलाओ।”

“हम लोग जिस गांव के रहने वाले हैं वहां गांव से लगकर ही एक नदी बहती है। बरसात के दिनों में जब वह बाढ़ पर आती है तो दूसरे किनारे से तैरकर आने वाले लोग नदी का घाट पार करते-करते मीलों दूर तक तिरछे तैरते चले जाते हैं और एक सीध में बिल्कुल नहीं तैर पाते हैं। जब वह किनारे से लगते हैं तो गांव से काफी आगे जाकर उन्हें किनारा मिलता है। फिर बेचारे किनारे-किनारे चलते गांव में आ पाते हैं।”

“तैराक ही क्यों, नावों की भी तो यही गति है। वह भी एक सीध में कब चल पाती है? मल्लाह दरिया पार करते समय बहाव को काटने-काटते भी ढेढ़े ही चल पाते हैं।”

“हां तो यही बात तो मैं कह रही थी कि परिस्थितियों का दबाव और बहाव हमें इधर-उधर भटकाता है। कभी-कभी तो आदमी इधर-उधर इतना भटक जाता है कि वह स्वयं ही नहीं जान पाता कि उसने कहां से ज़िंदगी शुरू की थी और वह कहा जा पहुंचा।”

बातें करते-करते मैं और उर्मिला बस स्टैंड के करीब जा पहुंचे। वह बोली—“क्या यहां से कोई बस उधर नहीं जाती है?”

मैंने कहा—“हां यहां से कनाट प्लेस के लिए बहुत बसे मिलेंगी।”

“तो फिर बस से ही न चलें? क्या फायदा ऑटो में पैसा फूंकने से।”

“तुम्हारी बस से चलने की मर्जी है तो फिर बस से ही निकल लेते हैं।”

हम दोनों बस स्टॉप पर जाकर ठहर गए और तीन-चार मिनट बाद ही हमें कनाट प्लेस जाने वाली बस मिल गई।

उर्मिला ने पूछा—“हमें घर पहुंचने में अभी कितनी देर और लग जाएगी?”

“कोई गाड़ी तैयार मिल गई तो घंटे सवा घंटे में पहुंच जाएंगे।”

बस ने हमें ऐसी जगह छोड़ा जहां से मिटो ब्रिज दस बारह मिनट में पैदल

हा आराम से पहुंचा जा सकता था।

सुपुर्ग बाजार के पास शंकर मार्केट से निकलते हुए मैं और उर्मिला स्टेशन पहुंच गए। उसे एक बेच पर बैठने को कहकर मैं टिकट लेने चला गया।

मैं टिकट लेकर लौटा तो दस बारह मिनट बाद ही गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी।

गाड़ी में बहुत सीटें खाली थीं। हम दोनों जिस डिब्बे में चढ़े उसमें रामायणी लोग तुलसीकृत रामायण की चौपाइयों का सस्वर पाठ कर रहे थे। उर्मिला ने चकित होकर उन लोगों को देखा और मुझसे पूछा—“ये कौन लोग हैं?”

“सभी दफ्तरी में काम करने वाले हैं। यह जब दफ्तर आने के लिए गाड़ी में बैठते हैं तो इसी प्रकार रामायण का पाठ करते चलते हैं। इसी प्रकार लौटते में भी सभी एक कंपार्टमेंट में बैठते हैं।”

उर्मिला ने उनका सस्वर रामायण पाठ सुनकर कहा—“समय का इससे अच्छा सदुपयोग और क्या हो सकता है?”

उसकी बात सुनकर मैं हसने लगा तो वह बोली—“इसमें हसने की क्या बात हुई?”

“यो हसने की तो कोई खास बात नहीं है पर इस डिब्बे में एक तरह से इनकी धोस पड़ी चलती है। बहुत से लोग तो इनके पाठ में इतना घबराते हैं कि इसमें चढ़ते ही नहीं हैं। कोई यहां बैठकर बातचीत नहीं कर सकता।”

“क्यों? क्या यह आपस में बातचीत भी नहीं करने देते?”

“जब यह सब मिलकर ऊंचे स्वर में गाएंगे तो कौन बातचीत कर सकता है?”

गाड़ी चल पड़ी तो रामयणियों ने खडताल और मजीरे बजाकर ‘मंगलभवन अमंगलहारी, द्रवऊ सो दशरथ अजिर विहारी’ ऊंचे स्वर में गाना प्रारंभ कर दिया।

मैंने उर्मिला की ओर मुस्कराकर देखा और बोला—अब सारा वातावरण एक घंटे तक राममय रहेगा। हम लोग बोलने की बजाय अब सिर्फ श्रोता बने रहेंगे।”

“वैसे भी आज बोलना बहुत हो चुका है। अच्छा है अब मन राममय हो जाएगा।”

एक स्टेशन तक गाड़ी ठीक गति से चली और बाद में खड़ी हो गई। लगता था आगे कहीं रेलवे लाइन में कोई अवरोध उपस्थित हो गया था। मैंने प्लेटफार्म पर उतरकर जानने की कोशिश की पर ठीक से कुछ पता नहीं चला।

एक-एक करके अधिकांश सवारियां प्लेटफार्म पर ही आ गईं और बैतावी से गाड़ी के चलने की प्रतीक्षा करने लगीं। लोग प्लेटफार्म पर नहीं उतरे तो बस हमारे डिब्बेवाले वह झांझ-मंजीरे बजाते हुए 'उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना' गा रहे थे।

मैंने उर्मिला से कहा—“नीचे ही उतर आओ क्योंकि अब तो आगे ‘जग सपना’ ही है। रामायण गाने वालों को तो गाड़ी चलने न चलने की कोई चिंता ही नहीं व्यापने वाली। वह तो इसी डिब्बे में अखंड रामायण पाठ करते रह सकते हैं।”

अब मुझे अपने निर्णय पर अफसोस हुआ। हमें मद्रास होटल से वैसे भी मिल सकती थीं। सुपर बाजार से थोड़ा-सा उधर चलते तो बस दस मिनट का इंतजार करने पर बस तो अवश्य ही मिल जाती और इस तरह बीच में रुके न रहना पड़ता।

समय काटने की गरज से हम टी स्टाल की ओर बढ़ गए और चाय लेकर पीने लगे। उर्मिला बोली—“आज तो हम लोगों ने चाय काफी खूब पी।”

“हा, हमने तो अपना थोड़ा-बहुत खाना-पीना कर भी लिया पर हमारे पडित जी का तो आज उपवास ही हो गया। पता नहीं घर भी ठीक से पहुंच पाए होंगे या नहीं। रास्ते में ही न भटक गए हो कहीं।”

पडित मुकुंद माधव का जिक्र आते ही मल्लिका का चेहरा बदल गया। सहसा मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ। मैंने क्यों बैठे बिठाए उनका नाम ले लिया।

उर्मिला बोली—“मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। उनके भगोड़ेपन की वही सीमा है। जा भी कहा सकते हैं। वह अब से बहुत पहले ही घर जा पहुंचे होंगे।

वह स्वयं में इतन स्थित है कि उन्हें किसी का चिंता नहीं रहता। घर में लड़कियाँ आगम कर रहे होंगे। उनके जैसा आत्मस्थ कभी किसी बात को लेकर परेशान नहीं हो सकता।”

मेने बातचीत को सहजता की ओर मोड़ना चाहा—“कमोवेश सभी लोग वैसे ही होते हैं।”

“एक जैसे तो सरकारी क्वार्टर होते हैं, आदमी कोई सरकारी क्वार्टर नहीं होता। इस दुनिया में अगर दस अरब आदमी होंगे तो उनके उतने ही मन होंगे। सब एक जैसे कैसे हो सकते हैं? आपको मैं क्या बता सकती हूँ आप तो न जाने कितने मनो से साक्षात्कार करते होंगे।”

“मैं अपनी बात वापस लेता हूँ। तुम्हारी बात ही सही है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है इसलिए उसके चरित्र और व्यवहार के आयाम भी बहुत हैं। वह स्वयं ही नहीं जानता कि किस समय वह क्या आचरण करेगा। थोड़े से लोग ही ऐसे होते हैं जो जीवन का एक निश्चित प्रारूप अथवा ब्लू प्रिंट तैयार करते हैं और उस पर पुख्तगी से चलते हैं। ज्यादातर तो लस्टम-पस्टम जीते चले जाते हैं।”

“लेकिन औरतों की जिंदगी फिर भी वैसी नहीं होती।”

“हा प्रकृति ने पुरुष से अलग नारी को ही यह शक्ति दी है कि वह विखरती चीजों को जोड़े। पुरुष को सहस्र रूप किसी ने कहीं नहीं कहा। नारी को ही सहस्र रूप कहा गया है।”

“हा, साथ ही नारी के चरित्र पर भी सवालिया निशान लगा दिया है।”

मैं बोला—“खींचतान कर तो बात को कहीं से कहीं भी ले जाया जा सकता है पर वस्तुस्थिति तो यही है कि आदमी को नारी से निष्कृति नहीं है। वह जब-जब भागने का प्रयास करता है नारी तभी कोई नया मंत्र आविष्कृत कर लेती है। पुरुष के लिए तो वह हमेशा से एक अवूझ पहेली ही बनी हुई है।”

उर्मिला ने विरोध किया—“पर आज यह बात नहीं है। विज्ञान ने सारा कुछ विश्लेषित करके रख दिया है। किसी का कुछ भी गोपनीय नहीं रह गया है अब।”

“ठीक कहती हो कि विज्ञान ने सब कुछ दिन के उजाले की तरह स्पष्ट कर दिया है पर क्या हमारा मन भी विज्ञान की गति के समानांतर चल पाने में समर्थ हुआ है। क्या परंपराएं, मान्यताएं हमारे मन की भावनाएं वास्तव में पूरी तरह बदल चुकी हैं? जो बातें और स्थितियाँ सैकड़ों वर्ष पहले हमें मथती थीं वह आज हमें उस तरह उद्धेलित नहीं करती? क्या प्यार और गहरी भावनाएं मानव सवध से खारिज हो चुकी हैं। अगर विज्ञान ही चरम सत्य है तो स्त्री पुरुष के संबंध सिर्फ जरूरत

भर रह जाने चाहिए पर क्या वैसा हो पा रहा है। वह भावनाओं से आज भी क्यों जुड़ हुए हैं?”

उर्मिला ने माना—“हा विज्ञान वहां तक तो वाकई नहीं पहुंच पाया और शायद कभी पहुंच भी नहीं पाएगा। स्त्री-पुरुष के संबंध आज भी बहुत दुर्योध है। नारी को पुरुष बनाने की पश्चिमी जगत् ने कम चेष्टा नहीं की पर वह वहा भी हू-ब-हू पुरुष जैसी तो आज भी नहीं बन पाई। मात्र बाहरी रंग-रूप और वेशभूषा बदल लेने से वह वैसी नहीं हो पाई।”

“मैं आपको अब उस तरफ ले चलता हू जो एक तरह से हमारे भारतीय समाज में एक गहिर्त कर्म है। पहले समलैंगिकता अपराध का पर्याय थी पर अब यूरोप में उसे मान्यता मिल चुकी है और, पुरुष-पुरुष के साथ और स्त्री-स्त्री के साथ रहने और सहवास करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है पर क्या उससे प्रकृति का विधान बदल गया है? स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण समाप्त हो चुका है? अभी आपने कुतुबमीनार की भीड़ में देखा होगा कि हर विदेशी युवक अपनी बगल में एक युवती लिये हुए था।”

उर्मिला बोली—“प्रकृति का विधान कहिए या संस्कारों का आग्रह कहिए स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण सनातन ही माना जाता है पर इससे स्त्री की स्थिति में तो रंचमात्र भी फर्क नहीं पडा है। वह पहले भी पुरुषापेक्षी थी और आज भी उतनी ही पुरुष पर निर्भर करती है। पहले उसे असूर्यम्पश्या कहा जाता था आज वह वस्त्रों को त्यागकर नग्नावस्था में प्रदर्शित की जाती है किंतु दोनों ही स्थितियों में वह पुरुष के द्वारा आयोजित है। इन दिनों जो भयानक व्याधियां सारी दुनिया में महामारी का रूप धारण कर रही हैं उनमें से एक एड्स है। आकडे बतलाते हैं कि नारियां ही इसका सर्वाधिक शिकार हैं। आखिर यह व्याधि उन्हें कहां से मिलती है? पुरुषों द्वारा ही न? तब बतलाइए नारी की विवशता प्रकारांतर से वही की वही है या नहीं? आप जैसे कुछ कवि-लेखक उसके मोहक और उदात्त स्वरूप का चित्रण करके वय सधि छूते युवक-युवतियों को भरमाते रहते हैं बाकी तो चारों तरफ वही सड़ांध फैली हुई है।”

मैं बोला—“आपकी बात से मैं इनकार नहीं करता क्योंकि वस्तुस्थिति को कोई नहीं नकार सकता। बाकी यह भी सही है कि नारी आज उतनी सताई हुई नहीं रह गई है। अपने अधिकारों के प्रति अब वह उतनी बेखबर नहीं है जितना कि एक सदी पहले रही होगी। अंग्रेजों ने पूरी एक शताब्दी इस देश को परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े जरूर रखा है पर साथ ही वह भी सच है कि स्त्री और दलित अथवा पिछड़े

हुए प्रतिरोध का एक मुखरता भी प्राप्त कर चुक है।

वह व्यंग्य के स्वर में पूछ बैठी—“फिर महात्मा गांधी ने ऐसे सदाशय अंग्रेजों को भारत छोड़ने की चुनौती क्यों दे डाली? वह तो परम अहिंसक और उदारमना थे।”

“गांधी जी का अल्टीमेटम हमारे सामाजिक उन्नयन से जुड़ा हुआ था। उन्हें उनके द्वारा स्थापित औद्योगिक क्रांति या जागरण स्वीकार नहीं था पर यह तो आप भी मानेंगी कि गांधी ने चुनौती देने का नजरिया भी उन्हीं के देश में पाया। वह अगर इंग्लैंड न गए होते और अंग्रेज के देश में जाकर उसकी जीवन पद्धति न देखी-जानी होती तो वह अंग्रेजों को ‘भारत छोड़ो’ न कह पाते।”

“आप जो भी कहें पर मैं अब भी यह नहीं मान पाती कि यहां की नारी और दलित सामाजिक न्याय पा रहे हैं—वह आज भी उतने ही शोषित और वंचित हैं।”

मैं बोली—“वह यह दृष्टि तो पा गए हैं कि वह शोषित और वंचित हैं। वह दिन दूर नहीं है जब वह अपने शोषण का शक्ति पूर्वक प्रतिकार करेंगे।”

“मैं आपकी बातों से अब भी सहमत नहीं हो पा रही हूँ। अगर औरत और दलित-शोषित अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगे हैं तो भारतीय मनीषा का प्रताप नहीं है। यह भी बाहर से आए हुए विचारों और जीवन पद्धति का ही एक आयाम है। राजाराम मोहन राय और द्वारिका नाथ ठाकुर या फिर ईश्वर चंद्र विद्यासागर इन सभी महानुभावों ने अंग्रेजी पढ़-लिखकर ही यहां पर मकड़जाल की तरह फैले पाखंडों का भंडाफोड़ किया था। उनके द्वारा जो जागृति फैलाई गई वह भारतीयता के झूठे घमंड को विदीर्ण करने वाली थी। विधवा विवाह आज भी एक सहज स्वीकृति स्थिति नहीं है जबकि लगभग डेढ़ शताब्दी पहले ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने इसकी खुलकर पक्षधरता की थी। यह तो पिछले पचास सालों तक होता रहा है कि बंगाल की हजारों बाल विधवाएं केश मुड़ाए और लगभग अधनगी दशा में मथुरा, वृंदावन और काशी की गलियों में भटका करती थीं। राजस्थान में नवयौवना विवाहिताओं को मृतक पतियों के साथ आज दिन तक चिता पर जबरन चढ़ाया जाता है। यही नहीं, हमारा समाज आज भी इस क्रूरता को लांछित करने के स्थान पर गौरवान्वित करता है।”

उर्मिला की बात को लेकर कोई बहस का मुद्दा ही नहीं बनता था इसलिए मैं बोली—“यह किसी देश या जाति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होता है कि उसके उच्च विचारों और क्रिया-कलातों के बीच कभी न पटने वाली खाई नजर आए। हम इसी बिंदु पर पराजित होकर हमेशा से मार खाते आए हैं। थोड़े से विदेशियों ने

समय-समय पर इस देश और यहाँ की जातीय परम्पराओं पर जो पराजय की मुहर लगाई है वह सोच और क्रिया के बीच का द्वेध ही तो है।”

“पर हम उस द्वेध को अब भी कहा मिटा पा रहे हैं। हम तो आज भी उतने ही पाखंडी और धर्मांध हैं। अपने शत्रुओं को कब पहचान रहे हैं? हमारे देश में हर रोज जन्म लेते नए-नए भगवानों से गली-मोहल्ले पटे पड़े हैं और हम उनके चमत्कारों से अभिभूत होकर अधोमुख पड़े हैं।”

मैंने उसे समझाया—“फर्क है, बहुत बड़ा फर्क है। स्थितियाँ बिल्कुल पुरानी जैसी नहीं हैं। आज एक-दूसरे के विपरीत दो धाराएँ बराबर क्रियाशील हैं। जो गलत है, निंदनीय है उसे आंखें बंद करके स्वीकार नहीं किया जा रहा है। उस पर प्रहार भी हो रहा है और कुत्सित को लांछित भी किया जा रहा है। जरा तोचो, जो नारी सदियों से असूर्यम्पश्या कही जाती थी वह आज आगे बढ़कर पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी करती दिखलाई पड़ती है। लड़कियों को स्कूल-कॉलेज भेजना तो बहुत दूर की बात थी, उन्हें प्राइमरी तक की कन्या शालाओं में पढ़ने नहीं भेजा जाता था। वह आज पुलिस और हमारे प्रशासन के विभिन्न विभागों में ऊँची से ऊँची कुर्सियाँ सभाले बैठी हैं। अगर यूरोप की ओर नजर डालोगी तो पाओगी वहाँ एकाध देश को छोड़कर कहीं राष्ट्रध्यक्ष महिलाएँ नहीं मिलेंगी पर भारत और उसके ही कटे हुए अंग पाकिस्तान और बंगला देश में राष्ट्र की बागडोर महिलाएँ सभालती रही हैं और आगे भी यही होगा। गुड और इविल की टकराहट में गुड का जीतना अब कहानी-किस्सों में ही नहीं होता। जीवन के वास्तविक धरातल पर भी रेखांकित हो रहा है।”

“पर तात्कालिकता के दबाव सत्य का गला आज भी खूब घोट रहे हैं।”

मैं बोला—“तात्कालिकता को लेकर जो अन्याय और दबाव बनते हैं उनकी वजह भी सिद्धांतहीनता है। सिद्धांत और श्रेष्ठ जीवन मूल्य किताबों से हटकर जीवन में स्थापित होने लगेंगे तो तात्कालिक और गैर तात्कालिक जैसा कुछ नहीं रह जाएगा।”

“मैं तो यही देखती हूँ कि अवसर पाते ही सिद्धांतों की माला जपने वाले भी उन्हें निरर्थक कहकर सबसे पहले एक ओर फेंक देते हैं।”

“यह सबकी बात नहीं है। अधिकांश व्यक्ति इस बात को पसंद नहीं करते वह इस प्रवृत्ति की कसकर आलोचना करते हैं और विरोध जतलाते हैं। गलत को सारे लोग आंखें बंद करके स्वीकार कर लें और निरंतर अन्याय सहते चले जाएँ यह माननीय स्वभाव नहीं है।”

“वास्तव में जो होता है मैंने तो उसी की ओर सकेत किया है।”

“गलत का यदि एक व्यक्ति भी मुखर होकर प्रतिरोध करता है तो उसे दबाना संभव नहीं है। चार सौ साल पहले राजरानी मीरा ने महारानियों के तौर-तरीकों को तोड़कर फेंक दिया था और राजमहल छोड़कर गलियों में निकल आई थी। उस काल में क्या कोई कल्पना कर सकता था कि सात पर्दों में छिपाकर रखी जाने वाली महामहिम राजरानी आम लोगों के बीच में पहुंचकर उन जैसा जीवन जीने लगेगी और राजकुल की मर्यादा को झूठा अहंकार घोषित कर देंगी? पर मीरा ने क्या वह सब जो आज भी अकल्पनीय लगता है—किया नहीं था? बस बात इतनी है कि हमारी इनकार में कितना बल है वहीं से प्रतिकार का बिगुल बज सकता है। हम भीतर ही भीतर विरोध जीते हैं और जीवन के गणित में सुविधाओं के समीकरण खोजने लगते हैं तो हमारा वह विरोध फिर आग नहीं बर्फ बन जाता है।”

उर्मिला के चेहरे पर अवज्ञा का परिहास उभर आया और वह बोली—“पिछले चार सौ सालों में मीरा जैसे कितने उदाहरण गिना सकते हैं? हम छुद्र संसारी जीवन महान् और स्थायी के लिए प्रतीक्षारत खड़े नहीं रह सकते। जितना उच्च और महान् है—वास्तविकता के धरातल पर देखे तो हवाई है। जब गाड़ी छूटने लगती है तो पक्कि में बने रहकर टिकट पाने का धीरज किसी में बाकी नहीं बचता।”

उसकी इतनी सटीक लौकिक उक्ति सुनकर मैं हस पड़ा और मुझे खयाल आया कि गाड़ी स्टेशन पर बहुत देर से रुकी खड़ी है और हम यह बात पूरी तरह भूल गए हैं। अगर गाड़ी सारी रात यो ही अविचलवादी रही तो क्या होगा। पर मैंने उर्मिला का ध्यान उस ओर नहीं खींचा। मैंने कहा—“हम लोग उन कीर्तनियों के डिब्बे को छोड़कर किसी और ही डिब्बे में चलकर बैठें तो अच्छा है। कम से कम वहां आपस में बातें करके समय तो काट सकेंगे।”

उर्मिला ने प्लेटफार्म पर पड़ी बेंचों पर नजर डालकर कहा—“डिब्बों में तो बहुत उमस होगी। बाहर थोड़ी हवा तो है—यहीं घूमते-फिरते हुए गाड़ी चलने की प्रतीक्षा करते रहें तो क्या हर्ज है?”

मैं और उर्मिला प्लेटफार्म पर आगे बढ़ते चले गए। प्लेटफार्म के दूसरे सिरे पर एक बेच खाली पड़ी थी। हम दोनों उस पर जाकर बैठ गए। वहाँ तेज रोशनी भी नहीं थी क्योंकि बिजली वाला खंभा वहाँ से काफी हटकर था।

मैं बोला—“कैसा अजीब संयोग है कि हम घर से तो तीन लोग चले थे और लौटते-लौटते दो ही रह गए।”

“प्रायः ऐसे संयोग अच्छे ही होते हैं। अब आप कल्पना कीजिए कि वह भी साथ होते तो कितना झीखना और रोना पीटना हो जाता। क्या तब हम लोग इतने मुक्त भाव से सब तरह की बातें कर सकते थे?”

“क्यों नहीं कर सकते थे? मैं तो पंडित जी को भी बातों में खींच लेता। कुछ विरोधी स्वर उनकी ओर से आते तो बातों में और भी मजा रहता।”

“अजी राम का नाम लो। वह इस तरह की बातों में पड़ना वक्त की बर्बादी समझते हैं।”

“पर जब हमारे सामने वक्त के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं तब भी वह वक्त की तरफ पीठ करके खड़े हो सकते थे?”

उर्मिला हस पड़ी और बोली—“हम वक्त की ओर से पीठ भी फेर लें तो क्या वह अनुपस्थित हो जाता है। फिर वह पीठ की तरफ से घूमकर सामने जाकर खड़ा नहीं हो जाता?”

मैंने कहा—“बिल्कुल खड़ा हो जाता है। समय से ज्यादा धृष्ट और कौन हो सकता है?”

“धृष्ट हो या कुछ पर एक बात तो जरूर है, वह रुकता किसी के लिए नहीं है।”

रुकता ह, अगर काइ उसे रोकना चाहे ।

“वह कैसे?”

“जैसे हम लोग उसे पकड़कर बैठ गए हैं और वह हमारे सामने नतशिर खड़ा है।”

उर्मिला ने बेच पर रखा साडी का पैकेट उठाकर अपनी गोद में रखते हुए कहा—“लगता है यह आपका ही किया हुआ षड्यंत्र है जो गाडी यहां आकर खड़ी हो गई है और आपने एक बार भी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि गाडी रुके रहने की क्या वजह है।”

“बेकार है कुछ भी जानने की कोशिश। तुमसे बातें करने का जितना भी वक्त मिल रहा है—वह फिर मिले न मिले। मैं कुछ मिनट यह बात जानने में क्यों गवाऊ कि गाडी क्यों नहीं चल रही है।”

“लगता है मुझसे बातें करने का आपका बड़ा लोभ है?”

“अपने आप से बातें करने का लोभ किसे नहीं होता?”

“इतनी देर से जो बातें हम लोगो के बीच होती रही है—क्या वह सब आत्मालाप है?”

“आप क्या यह नहीं जानती कि जो कुछ हम लोग बोलते हैं वह ध्वनिग्राह्य यंत्र में सुरक्षित होता रहता है, भले ही वह पृथ्वी पर हमारी पकड़ में न आए पर वायुमंडल में तो चिरकाल के लिए सुरक्षित रहता ही है।”

“वायुमंडल में ही क्यों, उसे तो आप अब कैसेट में भी पकड़कर रख सकते हैं।

“अवचेतन से निकलने वाली संवेदनाओं को जड़ यंत्र में भरने का कोई उपाय नहीं है। उसे हम कानों से नहीं स्मृतियों से सुनना चाहते हैं।”

“लगता है आपकी स्मरण शक्ति बहुत जबरदस्त है जो इतनी-इतनी बातों को स्मृति में संजोए रह सकते हैं।”

“वह बातें अच्छी-बुरी स्मरण शक्ति की मांगताज नहीं होती। यह दूरागत होते हुए भी मन के निमृत्त प्राण में दोलायमान रहती है।”

“अच्छा आप कविताएं क्यों नहीं लिखते?”

“मैं कविताएं सुनता हूं और उन्हें जीने लगता हूं। अक्षरों में लिखी हुई कविताएं ही काव्य नहीं होतीं अपने मन चाहे किसी से हुआ संलाप ही सबसे जीवत कविता होती है।”

“पर यह कविता भी ठहरती कहां है? मुड़ी में भरी वालू जैसी रीत जाती है।”

“बालू में आर्द्रता हा तो फिर वह मुड़ी में बट रहती है—झरती नहीं है।”

“आप भावनाओं को कब तक वास्तविकता के वहम् में रख सकते हैं? वह सब क्षणिक इंद्रधनुषी है। वस्तु जगत् का असह्य ताप वाष्प और ओम कणों को कब तक अक्षय रहने दे सकता हूँ।”

“जितने समय भी इंद्रधनुष आकाश में रहता है वह इंद्रधनुष ही होता है। उसे हम अपने बनाए हुए समय के मानदंडों में क्यों कैद करके रखें? केवल सकेत ही अक्षर है वाक्यी तो निरंतर क्षयधर्मा ही है।”

उर्मिला बोली—“यह सब भी तो कविता की ही बातें हैं। असली बात तो यह है कि आपको जीवन में क्या मिला है। आपको जो उपलब्ध है वह अन्य लोगों की दृष्टि में स्तुत्य और श्रेयस हो सकता है पर वह आपके लिए कितना ग्राह्य है इसी से आपका और आपकी उपलब्धि का रिश्ता तय हो सकता है।”

“जब हमारा यथार्थ हमारी ही सकुल परिधि में चक्कर काटकर रह जाता है तो हमारा अपना अस्तित्व हमारे अपने लिए ही बोझ जैसा हो जाता है उर्मिला जी। आपने देखा होगा, इस दुनिया में बहुत लोग ऐसे हैं जिन्हें बहिर्जगत् में घटने वाली लोभ हर्षक घटनाएं स्वमात्र भी नहीं छू पाती और हमारी कुछ समस्याएं हमें छीलकर रख देती हैं।”

उर्मिला बोली—“चोटियों की पात पर दस बूद पानी भी महाजलप्लावन जैसा है।”

मैंने कहा—“भगवत् उनकी सामूहिकता उससे अपनी रक्षा कर ले जाती है। हम भी सामूहिकता के ताल पर अपना अस्तित्व बचाए रह सकते हैं। हमारा प्रयास ही यह होना चाहिए कि हम दूसरों में शामिल हो और उन्हें भी स्वयं से जोड़ें। किसी को भी नकार देना कोई उपलब्धि नहीं है। शायद आप इसे मेरी अनधिकार चेष्टा मानें कि मैं कहूँ घंडित जी बहुत भोले व्यक्ति है। बस दिक्कत यही है कि उनका लोकार 'नहीं' से शुरू होता है। क्या आप ऐसे एक भी व्यक्ति के परिचय के क्षेत्र में नहीं हैं जो 'नहीं' से ही अपनी बात शुरू करता हो?”

“जब आप मुंह खोलते ही नहीं बोलेंगे तो आपकी बात को सुनने-समझने का आह्वान किसमें होगा?”

“कुछ लोग ऐसे होते ही हैं जो बहुत धैर्य और कौशल से स्वयं को उपस्थित कर पाते। यह कुशलता प्रतिभा का चमत्कार नहीं है बल्कि चालाकी भरा अंदाज।”

“क्या करूँ मेरी अल्पबुद्धि शब्दों की चीर-फाड़ नहीं कर पाती वह 'काल' ए

।”
।डी

की
यानी
बनी

। है।”
मणी से

नयन की
रुवि पाश

एक ऐसा

आभास देते

की कोशिश

र है। उपेक्षा
प्रयत्न साध्य
अततः वह भी

खे पुल / 139

स्पेड ए स्पेड' (कुल्हाड़े को कुल्हाड़ा ही) समझती है।”

“अब यह तो मैं नहीं मान सकता कि आप चीजों की बारीकी तक नहीं पहुँचती या उन्हें नहीं समझ पाती। मैं जब से आपके साथ हूँ बराबर देख रहा हूँ कि आप हर बात और स्थिति का गहराई से विश्लेषण करती चली आ रही है फिर क्या कारण हो सकता है कि बरसों तक साथ रहने पर भी आप अपने पति को कुछ नहीं समझा पाती या कि उन्हें अपने ‘पाइंट आफ व्यू’ तक नहीं ला पाती।”

“आपने दाम्पत्य जीवन भोगा होता तो आप इस बात को आसानी से समझ जाते। जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों के साथ हम निरंतर रहते हैं उन्हें हर बात विस्तार से समझाने का धीरज हममें बाकी नहीं रह जाता है। हम चाहते हैं वह हमारे सकेत पकड़े। वह बच्चे तो होते नहीं हैं जिन्हें हर बात की भूमिका समझाई जाए।”

“हर व्यक्ति में एक बच्चा छिपा होता है और उसे बच्चा मानकर ही हम धैर्य से समझाएँ तो वह न केवल समझ जाता है बल्कि हम उसका विश्वास भी जल्दी ही अर्जित कर लेते हैं। यह सारी सामाजिकता संवधों से जुड़ी हुई है जिसमें पारस्परिक विश्वास की भित्ति मजबूत होने से ही जीवन का दृढ़ कटता है।”

“हो सकता है मेरा धैर्य पूरी तरह चुक गया हो और मैं जिसको जितना जानती हूँ उससे आगे कुछ समझने की उत्सुकता ही मुझमें बाकी न बची हो। मेरी समझ को ग्रहण लग गया हो या वह बासी हो चुकी हो।”

“मैं फिर वही बात कहूँगा कि सह अस्तित्व के लिए जिम्मेदारी से साझेदारी निभानी पड़ती है। जिसे हम छोड़ न सके उससे ऊब जाना खतरनाक है। निजीपन और नयापन निरंतरता से जुड़ा होना मैं अपरिहार्य मानता हूँ।”

“बहुत बार जिसे हम जुड़ना कहते या समझते हैं वह वास्तव में जुड़े होने की विवशता होती है। आपने नवीनता की बात कही है, वह मैं मानती हूँ। बने बनाए साचों की एकरूपता को तोड़ने के लिए नवीनता आवश्यक है पर बाहर की दुनिया में वह बहुत कम है। वही गिनी चुनी चीजें स्थितियाँ और परिवेश हैं—अभिव्यक्ति की भाषा तक मैं बहुत कुछ नहीं बदल पाता। इस विवशता से कौन उबर सकता है।”

“आपने शायद इस संबंध में भी सोचा होगा कि नवीनता हम ही निर्मित करते हैं। हम स्थितियों की ऊब को काटने के लिए नए कोण तलाश करते हैं। कहना चाहिए कि इस तरह हम खेल जारी रखते हैं। भूमि वही होती है। मगर हमारे खेलने के स्थान में परिवर्तन हो जाता है—यानी खिलाड़ी जरा हटकर किसी बदली हुई भूमिका में चला जाता है तो वह भूमि भी एक तरह से नई लगने लगती है। जैसे

हम कुछ दिनों से अपने घर-परिवार से कहा बाहर निकल जाते हैं ता थोड़े दिनों बाद लौटने पर सारा कुछ नया लगने लगता है।”

“कहते चलिए, मुझे आपकी बातें अच्छी लग रही हैं और मैं उन्हें सुनते रहना चाहती हूँ।”

“चलिए तो फिर मैं कुछ नहीं कहता।”

उसने मेरे कंधे का स्पर्श करके कहा—“नहीं कहने से तो काम नहीं चलेगा क्योंकि फिर हम दोनों यहाँ निपट अकेले बैठकर क्या करेंगे। हमारे पास तो ताश की गड्डी भी नहीं है।”

“यानी ताश की गड्डी स्थानापन्न है यह मेरी बकबक?”

“आपकी बातों में बर्सीपन नहीं है। इनमें एक नयापन और रमणीयता है।”

मैंने हसकर कहा—“रमणी आप है और रमणीयता मुझमें है यह तो बड़ी विपरीत-सी स्थिति हुई।”

“आप में रमणी नहीं है यह आप कैसे कह सकते हैं। क्या हमेशा घर की कमरों की स्थिति एक जैसी ही रहने देते हैं? उनमें बदलाव नहीं करते यानी सोफे-मेज कुर्सियाँ दीवान रैक वगैरह स्थायी रूप से अपने एक ही स्थान पर बनी रहती हैं?”

“नहीं तो। महीने दो महीने में लगभग सभी कुछ इधर-उधर हो लेता है।”

“बस यही तो रमणी करती है। इस दृष्टि से हुए न आप रमणी। रमणी से एतराज हो तो अर्धनागेश्वर भी कहे जा सकते हैं।”

“मैं इसी नवीनता की बात कह रहा था। नवीनता हमें निरंतर उन्नयन की ओर ले जाती है। नए-नए सपनों और आशा-आकांक्षाओं से जोड़ती है। कवि पाश ने यह ठीक ही कहा है, ‘सबसे खतरनाक है सपनों का मर जाना’।”

“आप कहना चाहते हैं कि कुछ हो न हो हमें औरों की नजर में एक ऐसा भ्रम बनाए रखना चाहिए कि उन्हें हम नवीन दिखाई देते रहें।”

“ऐसा तो मैंने शायद कभी नहीं कहा पर दूसरों को कुछ अच्छे आभास देते रहना भी कुछ बुरा नहीं है।”

“मेरा खयाल है आभास भी एक सच्चाई हो सकती है पर अकेले की कोशिश से वह भी कहीं नहीं ठहरती।”

“हा इसके लिए दोनों ओर से ईमानदारी और चाहत दरकार है। उपेक्षा अथवा शैथिल्य हमें गलत परिभाषित करते हैं। जीवन में सारा कुछ प्रयत्न साध्य है। लाखों वर्षों में जिन मूल्यों का निर्माण और विकास हुआ है अतएव वह भी

ना यत्न साधित हा है।

“मृत्यो के साथ ही मृत्यहीनता का भी निर्माण और विकास एक समांतर प्रक्रिया है इसकी ओर भी कभी देखते है आप?”

“नकार को हम सामने क्यों रखे जबकि हम इस तथ्य से आश्वस्त है कि जीवन और जगत् का समस्त व्यापार प्रयास और उद्यमशीलता से जुड़ा हुआ है। प्रयास और अध्यवसाय ही हमारे जीवन को सुंदर और उत्साहप्रद बनाते हैं।”

उर्मिला ने मुझे टोका—“भगर प्रकृति की ओर से कोई ऐसा साम्यवाद अभी तक आरंभ नहीं हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निश्चित तौर पर स्वयं को सिद्ध करने के लिए अवसर पा जाए। पूरी जिदगी निकल जाती है पर ऐसा एक भी अवसर नहीं जुटता कि आदमी कभी सार्थक ढंग से जीने के थोड़े से क्षण भी पा जाए। मैं पूछती हूँ, इसमें किसका दोष है?”

“यह कहना बड़ा मुश्किल है कि दोष किसका है पर इतना तो निश्चित ही है कि मनुष्य को जो प्रकृति प्रदत्त एक बड़ा वरदान विवेक मिला है उसका उपयोग किया जाना चाहिए।”

“आपने फिर वही चाहिए वाली कठिन शर्त सामने रख दी। विवेक कोई इलहाम की तरह नाजिल नहीं होता। उसके निर्माण के पीछे भी सामाजिक शक्तियों का हाथ होता है। जो समाज ही विवेक से खाली हो उसमें व्यक्ति विवेकशील कैसे हो सकता है? पशुओं की तरह हाकी जाने वाली अधिकांश जनता तो किसी तरह अपना आधा चौथाई पेट भरकर पशुवत् जीती चली जाती है और आप ऐसे गए बीते समाज में विवेक की रागिनी अलाप रहे हैं।”

मैं उसकी बात सुनकर एक क्षण के लिए निरुत्तर रह गया और बोला—“विवेक को हम कभी खारिज नहीं कर सकते—वह मानवीय गुण है जो हमारे भीतर और हमारे अस्तित्व का हिस्सा है।”

इस बार वह और भी अधिक आक्रामक हो उठी—“हमसे बाहर तो कुछ भी नहीं है। पूरी सृष्टि, पूरा ब्रह्मांड हमारे भीतर स्थित है—आत्मा मन, बुद्धि-चित्र, अहंकार और कितनी ही अगैरा-बगैरा चीजें हमारे भीतर भरी पड़ी है, फिर हम बाहर टक्कर क्यों मारते फिरते हैं? जब मन हो, सारा कुछ वांछित भीतर से ही क्यों नहीं ले लेते? जरा-जरा सी चीजों के लिए रिरियाते क्यों रहते हैं।”

उसके विद्रूप का वस्तुतः हमारी व्यवस्था और सामाजिकता के पास कोई वाजिब उत्तर नहीं था। मैंने एक कमजोर-सी कोशिश की—“दरअसल निरपेक्ष कुछ नहीं है। यह जो वांछित और इच्छित को तुम भीतर से न पाने की बात कह रही

हा—यह पाना भी काफी कुछ संभव है। हमें सच में तो इतना अल्प चाहिए कि उसके लिए बहुत टक्करें मारने की जरूरत नहीं है। पर अज्ञान के कारण हम सारा कुछ उपलब्ध होते हुए भी टकराते रहते हैं। उसी तरह जैसे अंधेरे में स्थान का विस्तार कुछ अर्थ नहीं रखता हम एक दूसरे से गतिशीलता के क्रम में टकराएंगे ही। वस्तु एक हो और पाने वाले की संख्या दो या अधिक हो तो टकराहट बच नहीं सकती। जिस समाज में सभी कुछ सबको उपलब्ध होता है वहां यह संघर्ष बच जाता है।”

“मैं कहती हूं वहां भी नहीं बचता। मनुष्य की संचित करने की इच्छा या कि सभी कुछ मेरे पास हो वाली बुभुक्षा भी सहज और जन्मजात है। चीजें ज्यादा होंगी तो भी सबको नहीं मिल पाएगी—मोनोपोली अथवा एकाधिकार की भावना को कैसे समाप्त करेंगे?”

“इसके लिए शिक्षा की जरूरत है क्योंकि संस्कारों को जन्मजात मानना ही गलत है। वह सुशिक्षा से कल्याणपरक बनाए जा सकते हैं।”

“फिर वह शिक्षा या सुशिक्षा इस दुखी और अभावों की मारी दुनिया में आएगी कब?”

मैंने हसकर कहा—“वह सुबह कभी तो आएगी, भूख और प्यास की मारी दुनिया जब न सतायी जाएगी।”

“आप मेरी जिज्ञासा को हंसकर उड़ाने की कोशिश न करें। जब आप हारने लगे और आपके सब तर्क चुक गए तो कविता बताने लगे।”

मैं कुछ कहता तभी विपरीत दिशा से किसी गाड़ी के आने का आभास मिला। मैं उर्मिला से बोला—“चलिए जल्दी कीजिए उधर से एक गाड़ी आ रही है।”

वेच छोड़कर उर्मिला उठ गई और मेरे साथ तेजी से चल पड़ी। हम दोनों एक ऐसे स्थान पर बैठे थे जहां से पुल पास पड़ता था। जब तक हमने पुल पार किया गाड़ी प्लेटफार्म पर आ पहुंची।

जो भी डिब्बा सामने पड़ा मैं उसमें घुसते हुए उर्मिला से बोला—“जल्दी करो—यहां गाड़ी एक मिनट से ज्यादा नहीं ठहरेगी।”

मैंने भीतर से हाथ बढ़ाकर उर्मिला को अंदर खींचा ही था कि गाड़ी चल पड़ी।

“
क
हैं
कि
लेव
हर
को
पर
इस
है।

लेख
और
समग्र
समझ
खाई
अकि
समर्प
किस
किया
लिए
एक
पाटने
विलक्ष
से आ
को दृ

16

हम दोनों ने दौड़कर जल्दी-जल्दी पूरा पुल पार किया था इसलिए दोनों हांफ रहे थे। जब सांसों की गति कुछ सम हुई तो उर्मिला ने पूछा—“यह गाड़ी कितनी देर में पहुंच जाएगी?”

मैं बोला—“पहुंचने को तो यह जरा देर में ही स्टेशन पर जा लगेगी पर हम अपने शहर में नहीं बल्कि दिल्ली में ही होंगे।”

“आय! फिर इस गाड़ी में क्यों चढ़ गए?”

“वह इसलिए कि जो गाड़ी स्टेशन पर अटकी पड़ी है, उसको पूरी रात अटकना पड़ सकता है। हम लोग सारी रात उस छोटे से स्टेशन पर क्या भूखे मरते? रात के दस बजते-बजते चाय वाला और टिकट बाटने वाला बाबू भी वहां ठहरने वाले नहीं थे।”

वह घबराकर बोली—“अब क्या पूरी रात हमें दिल्ली में ही गुजारनी होगी।”

मैंने यह कहकर उसकी घबराहट और बढ़ा दी—“देखेंगे। हां सकता है रुकना ही पड़ जाए। किसी होटल या लॉज में तो जगह मिल ही जाएगी।”

“आपका शहर दिल्ली के इतना नजदीक है, क्या वहां जाने का दिल्ली से कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होगा?”

मैंने उसको सात्वना दी। दिल्ली से बहुतरे साधन मिलेंगे। मैं तो तुमसे मजाक कर रहा था। पुरानी दिल्ली से अभी कितनी ही गाड़ियां मिलेंगी।” अपनी घड़ी देखकर बोला—“घसो के मिलने की भी उम्मीद है। कुछ भी नहीं होगा तो टैक्सी भी ली जा सकती है। जैसे भी होगा मैं आपको आज रात ही आपके पति देव के पास पहुंचा दूंगा।”

वह शक्ति हांकर बोली—“पता नहीं वह होंगे कहा? हम घर ठीक वक्त से

पहुंच जाते तो उन्हें शायद भटकना न पड़ता। जोखन तो चला गया होगा। मकान बद देखकर उन्हें न जाने कहा रुकना पड़े रात को।”

मै चिता के स्वर में बोला—“हा यह हो सकता है कि वह पनवाड़ी से चाभी न ले पाए हो। पर अब कुछ किया भी नहीं जा सकता।”

वह साधारण घरेलू औगुत की तरह बोली—“जब जो मुसीबत झेलनी होती है, होती ही है। नहीं तो दिल्ली से अच्छी भली गाड़ी चली थी—फालतू में बीच में ही अटक गई। नहीं तो कब के घर जा पहुंचते।”

मैंने सहानुभूति से कहा—“और क्या? अब तक तो कब के पहुंच जात। गांव देहात के लोग तो इतनी दूर पैदल ही चले जाते हैं। एक बार तो ऐसा हुआ कि दिल्ली से जिस बस में बैठा था वह आधे रास्ते में जाकर खराब हो गई। आखिरी बस थी इसलिए किसी दूसरी बस के मिलने की आशा भी नहीं रही। मैंने आव देखा न ताव वहीं से पैदल चल पड़ा और दो-ढाई घंटे में घर जा लगा।”

वह मेरी ओर देखकर बोली—“क्या अब ऐसा नहीं कर सकते थे आप?”

“कर क्यों नहीं सकता था? गाड़ी जंगल में न खड़ी होती और आप साथ न होती तो मैं पैदल ही चल पड़ता। दरअसल सड़क के रास्ते पर कई आसानिया हैं—कुछ भी न मिले ट्रक तो सारी रात चलते ही हैं।”

वह पछतावे से बोली—“फिर तो मैं आपके लिए मुसीबत ही साबित हुई। मेरी ही वजह से आपका पूरा दिन खराब हुआ और अब रात भी काली होती दिख रही है।

“ऐसा आप कैसे कह सकती हैं? हो सकता है मैंने मन ही मन प्रार्थना की हो कि कुछ ऐसा बानक बने कि आप मेरे साथ अधिकतम समय तक रह सकें।”

“ऐसी प्रार्थना आप क्यों करेंगे? मेरे साथ रहने में ऐसा क्या है।” कुछ क्षण ठहरकर बोली—“मैं तो वैसे भी आपके साथ ही रहती—यहां न सही घर में तो होती ही होती।”

इसी समय गाड़ी तिलक ब्रिज पर पहुंचकर थम गई, मैंने उर्मिला से कहा—“हम लोग यही उतर पड़ते हैं। यहां से बस और ऑटो कुछ भी मिल जाएगा। हम पुरानी दिल्ली स्टेशन या अंतर्राज्यीय बस अड्डे पहुंच जाएंगे। वहां से कोई-न-कोई साधन उपलब्ध हो जाएगा।”

उर्मिला गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर चढ़ते हुए बोली—“फिर वहीं उल्टी गिनती शुरू।”

“
क
हैं
कि
लेव
हर
को
पर
इस
है।

लेख
और
समय
समय
खाई
अंकि
समय
किस
किया
लेए
क
पाटने
वेलक
पे आ
को दृ

“‘उल्टे वास वगैली को’ कहावत झूठी कैसे हो सकती है? कभी-कभी ऐसे अवसर आ ही जाते हैं कि आपको फिर वही लौटकर आना पड़ता है जहाँ से कि आप चले थे। कहना चाहिए—दुनिया गोल है।”

तिलक ब्रिज की सीढ़ियाँ उतरकर हम दोनों मुख्य सड़क पर पहुँच गए। वहाँ से लगातार बसें गुजर रही थीं। मैंने उर्मिला से पूछा—“बानों कहां चले—पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन या बस अड्डा?”

“कहीं भी जहाँ से घर जल्दी-से-जल्दी पहुँचा जा सके।”

“तो फिर बस अड्डा ही चले क्योंकि वहाँ अभी बसें मिल जाएंगी और इंतजार भी नहीं करना पड़ेगा। यों गाड़ियाँ भी कई जाएंगी पर मुझे उनके समय का कोई पक्का पता नहीं है।”

वहादुर शाह जफर रोड पर बस स्टॉप के सामने हम ठहर गए। कश्मीरी गेट की ओर जाने वाली बस ज्यों ही हमारे सामने आकर रुकी, मैं बोला—“यह बस हमें बस अड्डे के पास ही छोड़ेगी। आओ-आओ।”

बस में मैंने उर्मिला को पहले चढ़ाया और स्वयं बाद में दाखिल हुआ।

बस चल पड़ी तो एक खाली सीट पर उर्मिला के पास बैठकर मैं बोला—“वैसे तो यह महिला सीट है पर यहाँ कोई दूसरी महिला आसपास खड़ी नजर नहीं आ रही है इसलिए तुम्हारे पास बैठने का लाभ मुझे मिल गया।”

“कितनी देर के लिए? बस तो शायद जल्दी ही अपने गंतव्य पर पहुँच जाएगी।

“हां, कोई पंद्रह मिनट में। पर उतनी देर ही सही।” कहकर मैं सीट से उठकर सबसे पिछली सीट पर बैठे कंडक्टर से टिकट लेने चला गया।

टिकट लेकर लौटा तो बस दरियागज से गुजर रही थी। लाल किले के सामने आकर बस ठहरी तो अधिकांश सवारियाँ वही उतर गईं।

उर्मिला भौंके टेढ़ी करके बोली—“अब आप किसी भी महिला सीट पर जा बैठिए—सभी खाली पड़ी है।”

इधर-उधर नजरे घुमाकर मैंने कहा—“मैं एक ही महिला सीट को लेकर संतुष्ट हूँ फिलहाल।”

पाच-सात मिनट बीतते-बीतते बस कश्मीरी बस स्टॉप पर पहुँच गई। मैं उठते हुए बोला—“बस यहाँ से ढाई-तीन सौ गज पैदल का रास्ता है—हाफुड गढ़ मुक्तेश्वर या गाजियाबाद जाने वाली कोई भी बस यहाँ से मिल ही जाएगी।”

बस स्टैंड पहुँचकर मुझे डी.टी.सी की एक बस दिखलाई पड़ गई। मैंने उर्मिला

से कहा—“प्राइवेट बसें जगह-जगह ठहरती जाती हैं और सवा डेढ़ घंटे से पहले नहीं पहुंचती। यह डी टी सी. की बस बस गिने चुने स्टॉपों पर ठहरेंगी। चलो इसी से चलते हैं।”

डी.टी.सी. की बस में हम बैठे ही थे कि वह चल पड़ी। मैंने खाली सीट की ओर संकेत करके उर्मिला से कहा—“तुम वह सीट घेर लो। मैं टिकट लेकर आता हूँ।”

उर्मिला उस सीट की तरफ बढ़ी तो कंडक्टर बोला—“बाऊजी आप भी सीट पर जा के बैठो मैं उधर ही टिकट बांटने आ रहा हूँ।”

मैं उर्मिला की बगल में जाकर बैठ गया और संतोष प्रदर्शित करते हुए बोला—“अब तो हम लोग शायद एक घंटे से भी पहले अपनी मजिल पर पहुंच जाएँ।”

“चलो अच्छा है, देर से ही सही—यहां आकर ठीक किया। पहले यहीं आए होते तो बेकार की भागम-भाग से तो निजात मिल जाती।”

“तुम्हारी धारणा के हिसाब से यहा भी होनी कौन सा पीछा छोड़ देती? तब देर का और कोई कारण बन जाता। जब देर होनी थी तो फिर उसे कौन रोक सकता था?”

“हां यह तो है फिर भी आदमी सोचता है ही कि यह न करके यह किया होता तो शायद अच्छा था।”

“करना और पछताना आदमी की फितरत है। ईसाई धर्म के अनुसार यह सृष्टि पाप से उत्पन्न हुई है इसीलिए इसमें पछतावा ही पछतावा है। पछतावे से छुटकारा पाने के लिए ही आत्म स्वीकृति है जिससे मन पर कुछ बोझ न रह जाए।”

“यह बात बड़ी विचित्र है कि इस सृष्टि के मूल में पाप है। जो एक निश्चित प्रक्रिया का परिणाम है और मनुष्य या किसी के हाथ में अपना पैदा होना नहीं है उस पर भी पाप का आरोपण किया जाता है। इस तरह तो आदमी में वेवजह अपराध बोध जन्म लेगा।”

“अब इस संवध में क्या कहा जाए। सभी धर्मों की सृष्टि को लेकर अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। हम हिंदू पुनर्जन्म और संस्कार मानते हैं। आत्मा को सारे दोषों से मुक्त खयाल करते हैं।”

उर्मिला बोली—“यह संस्कार वाली ध्योरी तो कुछ समझ में नहीं आती।” ब्राह्मण के बेटे में तो ब्राह्मण वहां के ही संस्कार होते होंगे क्योंकि जन्म जन्मांतरो

स वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर अच्छे संस्कारों की संपदा संग्रहीत करता रहा होगा।”

मै बोला—“माना जा सकता है कि वह श्रेष्ठता लेकर ही उत्पन्न होगा।”

उर्मिला विद्रुप की हंसी हसते हुए बोली—“अगर पैदा होते ही वह चाडाल या कसाई को दे दिया जाए तो जाहिर है वहां उसे चाडाली अथवा जीव हत्या का कार्य करने को ही मिलेगा। तब उसका ब्राह्मणत्व का संस्कार वहां जाकर कैसे चरितार्थ होगा?”

“हो सकता है उसका वह संस्कार वहां जाकर भी बलवान बना रह जाए और वह उस धंधे में रुचि ही न ले। यदि वह कार्य विवशता वश करना भी पड़ जाए तब भी उसमें उसकी कोई दिलचस्पी पैदा न हो।”

“ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा होने लगे तो सब लोगों के पैतृक धंधे चौपट हो जाएंगे। जबकि हम हमेशा से देख रहे हैं कि व्यवसायी का कोई बच्चा नौकरी करने में दिलचस्पी नहीं रखता।”

मैंने कहा—“यह दिलचस्पी की बात नहीं है। यह सुविधा का प्रश्न है। कोई धंधा खोजने या नौकरी तलाशने जाने की असुविधा से बचने के लिए प्रायः लोग अपने पैतृक धंधे में लगे रहते हैं मगर अब यह प्रवृत्ति भी बराबर बदलती जा रही है। जैसे-जैसे काम करने के लिए विविध क्षेत्रों का विस्तार होता जाएगा पैतृक धंधों का आकर्षण स्वयं ही खत्म होता चला जाएगा। अब अध्यापक का बेटा अध्यापक और पटवारी का बेटा हमेशा पटवारी नहीं बनेगा। प्रत्येक मनुष्य इस संसार में आकर अपने भीतरी मनस्तत्त्व की भूमि ही खोजता है। संसार में ऐसा कभी नहीं होता कि ब्राह्मण के पुत्र में हमेशा वही गुण हों जो ब्राह्मण की जीवनचर्या के लिए अपरिहार्य हैं। यही कारण है कि पुराकाल में वर्ण व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई थी। उसमें काफी लचक थी। व्यक्ति का वर्ण जन्म से नहीं कर्म करने से निश्चित होता था।”

“पर भारतीय समाज में कभी लचीलापन रहा होगा, इसकी तो मैं कभी कल्पना भी नहीं कर पाती। हमारी वर्ण व्यवस्था संस्कारों के नाम पर एक क्रूरतम बेड़ी ही साबित हुई है। और आज बीसवीं सदी के अंत पर भी उसमें शुभ की ओर जाने वाला कोई उल्लेख्य लक्षण विकसित हुआ है ऐसा भी नहीं लगता। वर्ण व्यवस्था के नाम पर जो एक जड़ सामाजिकता निर्मित हुई है उसने तो जैसे सहज ढंग से जीने की इच्छा ही लील ली है। पता नहीं कितने नर-नारी इस वर्ण व्यवस्था की नृशंस बेड़ी पर गाजर-मूली की तरह बलि चढ़ जाते हैं।

शायद इस हत्याकांड का कोई हिसाब लगाना भी संभव नहीं है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि पुरुष समाज चेतना संपन्न होने का दावा करते-करते उसी जड सामाजिकता का हामी बन जाता है जो युगों से इस समाज को कायर और खाखला बनाती चली आ रही है।”

मुझे उसकी बातें सुनने में दमदार और सही लग रही थी इसलिए मैंने उर्मिला के बोलने में बाधा उपस्थित नहीं की। वह कह रही थी—“दरअसल होता यही है कि हम भारतीय बहुत ऊंची उड़ान भरते हैं। यह भी एक तरह की मानसिक बीमारी है कि हमारा आशय तो बहुत हीन हो और हम उसे महानता के कीमखाब में लपेटकर पेश करें। यह कुठा एक पूरे समाज की दृष्टि है। हमारे श्रीमान् जी को ही लीजिए। जब वह बातें करते हैं तो वेद-वेदांग श्रुति-स्मृति, उनके जिह्वाग्र पर आकर छोटे पहुने लगते हैं। पर इन सबके बावजूद मानसिकता यही रहती है कि उनकी पत्नी उनके बनाए हुए संकीर्ण साचे से जरा भी इधर-उधर न हो जाए और अगर कभी किसी के साथ हंस बोलकर खुश होने का अवसर पा जाए तो उसे दंड देने की गरज से उसका बटुआ लेकर ही भाग जाया जाए।”

बिना किसी लाग लपेट के उर्मिला ने जिस कड़वे सत्य को कह दिया वह सुनने में बहुत कटु था मगर उसका यथार्थ इतना ज्वलनशील था कि उस पर उंगली उठाने की कहीं कोई गुंजाइश ही बाकी नहीं थी। मैं उनके इस गर्हित कर्म को किसी मनोवैज्ञानिक भावना में लपेटकर स्पृहणीय भी नहीं बना सकता था।

मैंने कमजोर स्वर में कहा—“इसका शायद कोई और भी कारण हो सकता है।”

“अब लीपा-पोती आप ही करे। मानव-व्यवहार पर शोध करने वाले इसकी सेकड़ों ढंग से व्याख्या कर सकते हैं क्योंकि विद्वानों को तो व्याख्याओं और परिभाषाओं की अधी रलियों में घूमने का शौक ही होता है। मीमांसा करने में भी एक तरह का मानसिक व्यायाम तो होता ही है पर घोर और कटु यथार्थ का धरातल इससे कुछ बदल नहीं जाता। आदमी की हीन प्रवृत्तियों को मैं इतना देख चुकी हूँ कि अब इस विषय में बातें करना भी लज्जाजनक मालूम होता है।”

“पर उसकी हीनता के बारे में बातें न करने से भी तो मन कुछ ज्यादा पवित्र या स्वस्थ नहीं हो जाता। जो मन में हो वह हर हालत में बाहर आना ही चाहिए। अन्यथा वह कोई दूसरी तरह की मानसिक ग्रंथि पैदा करेगा। कई बार मधुर शब्दों के प्रयोग के बजाय गाली का प्रयोग अधिक प्रभावी होता है।”

रोष हो तो गाली ही दी जाती है उससे ही मन का जहर बाहर निकलता है पर रोष और गाली भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि किसी पर भी गारत कर दिए जाए। जो आपसे गालिया खा सकता है वह कितना अंतरंग होगा यह कोई कहने की बात नहीं है। अपने पति को कोसने की मुझे कभी इच्छा नहीं होती। इतना ही अधिकार वह पा लेते तो भी गनीमत होती।

“पारस्परिक अनुपस्थिति सवादहीनता को ही जन्म दे सकती है।”

उर्मिला बोली—“संबंधों में एक थिल, एक थरथराहट एक विस्मृति की मूर्च्छना का अहसास ही न जगे तो सस्पर्शहीन साथ चारदीवारी में रहकर कैद काटने जैसा है।”

“यही सच है। मुझे अंतरंगता हीन साथ के कई उदाहरण पता हैं। शायद हम जीना जानते ही नहीं या उसे स्थगित करते चले जाते हैं। जितनी जल्दी हम भीतर से मरते हैं और बुझ जाते हैं उसे जान समझकर खेदपूर्ण आश्चर्य होता है। आगे बढ़ने से कतराकर जड़ भाव से कहीं ठहर जाते हैं। यह आगे बढ़े बिना ही एक पस्त वापसी है। शायद यही कारण है कि वास्तविक थिरकन या सिहरन हम जानते ही नहीं हैं। जीने में एक भीतर का जोश और जोर होता है। उस तरह के जीने में कोई जोखिम भी नहीं हो पर पता नहीं खुलकर जी लेने में हममें यह निराधार अहसास क्यों जग उठता है कि कहीं यह अनैतिक और पापपूर्ण तो नहीं है।”

वह ठठाकर हंस पड़ी और बोली—“खुलकर सास लेने में कभी-कभी तो यह लगता है जैसे कोई अनधिकार चेष्टा कर रहे हैं। यह सिमटते, सिकुड़ते चले जाने वाला भाव ही संकुल, आत्मभीरु और अततः आत्महीन बनाता है। जिस नदी में मात्र रेत हो वहां नाव चलाने का उफान किसके जी में पैदा हो सकता है?”

“हमारे दाम्पत्य जीवन में भी बहुत बार झूठी हया शर्म आड़े आती है। यह संबंध अधरे का बनकर रह जाता है मानो प्रकाश में घनिष्ठता वर्जित हो। मैं एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात आपसे पूछना चाहता हूं।”

उर्मिला ने अनुमान से मेरा प्रश्न पकड़ने का प्रयास करते हुए पूछा—“अवश्य पूछिए। आपसे तो अब किसी प्रकार का दुंराव रह ही नहीं गया है।”

“आपने कभी पड़ित जी से खूब-खूब बातें की हैं। जब ऐसा लगा हो कि कितनी भी बातें करते चले जाने पर भी आपका मन भरा नहीं है। आप दोनों के बीच सवाद मुखरता की स्थिति क्या है।”

“उनके साथ बहुत संवाद करने की अतः प्रेरणा मेरे भीतर शुरू से ही

कभी नहीं जगी वल्कि एक विचित्र अटपटेपन की अनुभूति ही आड़े आती रही है। विना कहे-सुने ही कोई पारस्परिक समझ बने, मैं यही सोचती रही हूँ। मुझे पारस्परिक विश्वास अथवा विश्वसनीयता को टटोलना हमेशा लज्जास्पद लगता है।”

“क्या तुम यह नहीं सोचती कि वह भी नि शब्द और अमुखरित होकर आपसे कही गहरे, सस्पर्शों की कामना करते हो। वह बिना मागे कुछ माग रहे हों और आप उनकी ओर से याचना की कामना कर रही हों।”

“मैं कोई अंतर्दामी तो नहीं हूँ कि मैं ही सोचती रहूँ कि किसी को किस समय क्या चाहिए और वह अपने मुँह से कुछ भी न कहे।”

आदमी का मन बहुत विचित्र है। उसमें तरह-तरह के अभिमान भरे होते हैं। वह कुछ न कुछ बात पर कभी-कभी रुठ जाता है। इसका कारण कोई बहुत बड़ा नहीं होता। हो सकता है उन्हें यह सोचकर क्षोभ होता हो कि आप उनके सामने ही एक गैर आदमी से बहुत सहज मन से खुला व्यवहार रखती हैं—हसती बोलती है। मेरे प्रति आपकी अंतरंगता उन्हें अपना अपमान भी तो लग सकती है।”

“अब निराधार बातों को लेकर कोई मन में गाँठ बांधकर बैठ जाए तो मैं क्या कर सकती हूँ, आप ही बताइए?”

“आप उन्हें ‘कोई’ समझती है—यह क्या आप ठीक करती हैं। वह आपके जीवन में जबरदस्ती तो दाखिल नहीं हो गए हैं। आपने उनका वरण किया है। वह अपनी पत्नी को किसी से मुक्त व्यवहार करते देखकर स्वयं को उपेक्षित अनुभव करने लगे तो इसमें उनका दोष तो कुछ नहीं है।”

“वह किसी से बातचीत करें या उसमें रुचि ले तो मैं कहां कोई दखल देने जा रही हूँ। वह जहां अध्यापन करते हैं वहां न जाने कितनी लड़कियों में उनकी रुचि होगी—मुझे क्या पता?”

“आपको इस संबंध में जानने की उत्सुकता होनी तो चाहिए। नहीं है तो यह भी उनके प्रति एक तरह से उदासीनता का व्यवहार है। इस तथ्य को आप कुछ इस ढंग से देखिए कि आपके पति किसी परिचित के घर में जाकर आपकी ओर से तटस्थ हो जाएं और उस घर की गृहिणी के प्रति आकर्षण का मनोभाव दिखाएं—चाहे उसका कोई गंभीर अर्थ न हो। तब भी क्या आप सामान्य रह सकती हैं? मैं नहीं समझता कि आप उस स्थिति में सहज और प्रसन्न रह सकेगी।”

उर्मिला हंस पड़ी और बोली—“चलो वह यही कर दिखाएं। तब मुझे यह तो पता चलेगा कि उनमें भी कहीं किसी के प्रति आकर्षित होने की भावना बाकी है।”

“यह तभी तक जब तक वह वास्तव में वैसा नहीं करते। करने लगेंगे तो शायद आप किंचित भी सहन नहीं कर पाएंगी।”

“अच्छा तो आप उनसे कुछ ऐसा ही करा दीजिए और तब मेरा मनोभाव देखिए।”

“आपकी चुनौती का साफ मतलब ही यह है कि वह एकनिष्ठ है। इसीलिए आप उनकी ओर से पूर्ण निर्द्वंद्व हैं। मुझे तो यही अपराधबोध हो रहा है कि मैं आपके और उनके बीच में एक शीत युद्ध का कारण बन रहा हूँ। हो सकता है इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप वह हम दोनों को छोड़कर चले गए हैं।”

“आपका अनुमान बेबुनियाद है। जो व्यक्ति एक अल्प परिचित के साथ अपनी पत्नी को छोड़कर चुपचाप खिसक जाए क्या वास्तव में वह अपनी पत्नी को गहराई से प्रेम कर सकता है? आप निश्चित रहे। देख लेना, वह घर में पहुँचकर आराम से सो रहे होंगे।”

“अगर ऐसा हो तो मुझे बड़ी राहत मिलेगी।”

“बिल्कुल यही होगा। वह इस बात से बहुत संतुष्ट होंगे कि उनकी पत्नी की गाँठ से कुछ भी खर्च नहीं होगा।”

“मैं यह बात नहीं मान सकता। वह आपके जायज खर्च पर रोक क्यों लगाने लगे?”

“जायज खर्च क्या है? इसे कौन तय करेगा? पति ही न?” वह कठोर हँसी हसकर बोली।

“जब पत्नी आर्थिक रूप से स्वतंत्र होती है तो यह पति की इच्छा से तय नहीं होता कि वह अपने हित में कहां क्या खर्च करेगी।”

“यही आप एक बड़ी भूल कर रहे हैं। पत्नी की कमाई को कोई पति उसका स्वतंत्र अर्जन स्वीकार नहीं करता। हर पति यही चाहता है कि जो कुछ भी वह कमाकर लाती है—एक-एक पैसा उसे सौंप दे और फिर एक-एक पैसा उससे रिरिया कर मागे। जो भी अपने ऊपर खर्च करे उसका राई-रत्ती उसे हिसाब दे।”

मैं सोच में पड़ गया! क्या यह सच हो सकता है? मैं अपनी अनुभवहीनता के चलते इस पर बहस भी क्या करता? तभी उर्मिला ने बोलना शुरू कर दिया—“एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि चाहे पत्नी की आय पति से कहीं अधिक हो पर वर्चस्व पति का ही होना चाहिए। कभी-कभी तो स्थितियों की विसंगतियाँ, यहाँ तक देखने में आती हैं कि जिमकी कोई सीमा ही नहीं है।”

मैने पूछा—“वह कैसे?”

“मैं अपने साथ की ही एक अध्यापिका की बात बतलाती हूँ। उसके पति महोदय कोई काम नहीं करते। जबसे उनका विवाह हुआ है—तभी से निठल्ले है। हाँ उन्होंने बच्चे जरूर कई पैदा करने की मर्दानगी दिखाई है। पत्नी की कमाई पर सब शौक पूरे कर रहे हैं। एकदम नवाबी ढंग से रहते हैं। बेचारी पत्नी घर में एक नौकरानी की तरह खटती रहती है पर वह उस तरफ से अपनी आखें हमेशा बंद रखते हैं। उस निरीह औरत से वह इस तरह पेश आते हैं जैसे उन्होंने उसके साथ विवाह करके बड़ा भारी अहसान किया हो। जब कभी समय जानना होता है तो पलंग पर लेटे-लेटे ही पूछते हैं। उनके सिर पर दीवार घड़ी लगी है पर क्या मजाल कि आखें उधर करके वक्त जान लें। वह गरीब रसोई में हो या गुसलखाने में वही से उनकी गुहार पर दौड़ी चली आती है और उन्हें समय बतलाती हैं।”

मैने विनोद में पूछा—“वह वक्त क्यों जानना चाहते हैं—जब उन्हें बिस्तर से उठकर कहीं जाना ही नहीं होता।”

उर्मिला बोली—“पता नहीं कहा जाना होता होगा।”

मै बोला—“जब लड़कियाँ निठल्ले और नाकारा लोगों से शादियाँ रचाएंगी तो यह सब उन्हें भुगतना ही होगा। इस तरह की लड़कियाँ क्या शादी से पहले यह नहीं जानती? मुझे लगता है कि एक उम्र पर लड़कियों को शादी की ऐसी जल्दी पड़ी रहती है जैसे गाड़ी छूटी जा रही हो। वह कहीं भी पांव फंसा लेती है। बाद में इस तरह की भूलों के परिणाम सामने आते हैं पर तब क्या किया जा सकता है?”

“आप बहुत एकांगी बात कर रहे हैं प्रभाकर जी। शादी न करे तो क्या करें लड़कियाँ बेचारी? उनके सामने दूसरा विकल्प भी क्या है?”

मै बोला—“पढ़-लिखकर जब नौकरियाँ कर सकती हैं, अपना शहर छोड़कर सैकड़ों मील दूर जाकर अकेली रह सकती हैं तो विवाह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर आखें क्यों बंद रखती हैं? क्यों नहीं समझ पातीं कि शादी उनके जीवन का एक निर्णायक मुद्दा है?”

“हमारे समाज में लड़की की अहमियत ही क्या है? पढ़-लिखकर भी उसे कोई बड़ी भारी स्वतंत्रता नहीं मिल जाती है। बल्कि सब पूछिए तो उसे पढ़ाया भी महज इसीलिए जाता है कि मां-बाप को उसकी शादी करने में कुछ कम झंझट पड़े। हमारे घरों में लड़की को एक खास उम्र के बाद अविवाहित रखना अभिभावकों को अपराधी

घोषित करने जैसा है। बीस की उम्र पार करते-करते लड़की घर में एक काटने वाली छुरी लगने लगती है। ऐसी स्थिति में अभिभावकों को पुरुष नजर आने वाला कोई भी, कैसा भी अपनी बेटी के लिए सुयोग्य वर दिखाई पड़ने लगता है। गोया उन्होंने अपनी बेटी के हाथ जल्दी पीले न कर दिए तो पूरा परिवार जलकर भस्म हो जाएगा। फिर किसी पढ़ी-लिखी या कि बहुत विदुषी के लिए भी कौन-सा मार्ग बच रहता है? वह अपने बलबूते घर छोड़कर कहीं जाकर कैसे अकेली रह सकती है? क्या हमारा समाज उसकी सुरक्षा की कोई गारंटी दे सकता है? ऐसी दशा में शादी ही उसकी सुरक्षा की एक मात्र गारंटी समझी जाती है और विवाह के नाम पर उसे किसी भी खार्ड-खोह में फेंक दिया जाता है।”

“यों मैं आपके तर्क से सहमत हूँ पर इतने सरसरे तौर पर इस स्थिति का साधारणीकरण नहीं किया जा सकता। आप यह भी तो देखें कि प्रकृति की ओर से नारी को जो दैहिक रचना मिली है उसके चलते उसके लिए घरेलूपन की कामना सर्वोपरि है। उसे घर चाहिए जहाँ वह अपनी सृष्टि की अपने ही ढंग से रचना करके सुखी और संतुष्ट रह सकती है। बात यदि केवल आर्थिक स्वतंत्रता तक सीमित होती तो परिश्रम की नारी आज पूरी तरह से सुखी और संतुष्ट हुई होती क्योंकि उसको अर्थ की स्वतंत्रता बहुत बड़ी सीमा तक उपलब्ध है। पर वास्तविकता यह है कि हर प्रकार की स्वतंत्रता और आर्थिक आत्मनिर्भरता के बावजूद यूरोप में दाम्पत्य विग्रह कुछ कम नहीं है। जितने तलाक वहाँ एक दिन में होते हैं शायद यहाँ वर्ष भर में भी नहीं होते होंगे। फिर सारे यूरोप की जनसंख्या और अकेले भारत की जनसंख्या का अनुपात भी देखें।”

उर्मिला ने कहा—“अति संपन्नता भी तो एक रोग ही है। उससे भी कई विद्रूप खड़े होते हैं। यूरोप के साथ यहाँ की तुलना ही नहीं हो सकती। वहाँ का सारा ढांचा व्यक्तिवाद पर खड़ा है। वहाँ घर-गृहस्थी उस अर्थ में रेखांकित ही नहीं होते जिस तरह से भारतीय समाज में स्वीकृत है।”

“तुम आज की बात कर रही हो न? मैं आज भर की बात नहीं कर रहा हूँ। एक शताब्दी पहले यूरोप में भी घर परिवार का ढांचा काफी कुछ अलग था। यूरोप विज्ञान और दूसरे क्षेत्रों में उन्नति करता चला गया और औद्योगिक उत्थान के साथ जो आर्थिक संपन्नता आई उसने घर-परिवार के स्वरूप को बिल्कुल बदल डाला। सामंती युग में मूल्यों में जो ठहराव था वह औद्योगिक युग में टूट बिखर गया और आज तो वहाँ भी हाथ तौबा और आपा-धापी मची है।”

“इसका अर्थ क्या यह हुआ कि आप सामंती युग को अच्छा समझते हैं? उस युग के अभिशाप को नारी ने जिस तरह झेला है उसकी ओर से शायद आपने आखे फेर ली है। सामंती काल में नारी को केवल बच्चे पैदा करने की मशीन या फिर दिल बहलाव का साधन समझा जाता था। यह वेश्या रूपी कोढ़ आपके सामंती युग की ही देन है। एक तरफ उससे दैहिक पवित्रता की अपेक्षा दूसरी ओर उसी नारी से खुले रूप में दैहिक खिलवाड़! वाह रे आपका सामंती युग और उसकी श्रेष्ठता!” अपनी बात कहकर उर्मिला ने घृणा से अपने होठ सिकोड़ लिए।

“मैं सामंती युग का कतई पक्षधर नहीं हूँ उर्मिला जी। न यह कहना चाहता हूँ कि पिछला काल आज से बेहतर था। मैं सिर्फ उस मूल्यात्मकता और स्वस्थ सामाजिकता की बात कहता हूँ जो स्त्री के द्वारा ही बने रह सकते हैं।”

“यानी बलिदान देना, धीरे-धीरे छीजते रहकर उदात्त की रक्षा कर ले जाना, मात्र भोग तक सीमित न रहना ही स्त्री के हिस्से में आता है।”

“मात्र भोग तक सीमित रहने में स्त्री की कौन-सी महान् उपलब्धि हो सकती है? जबकि पुरुष तो उसे मात्र भोग्या ही बनाने का प्रयास करता आया है। यह भोग की प्रवृत्ति जो इन दिनों वूमेन लिव के नाम पर विकसित हुई उससे सारे सामाजिक मूल्य उलट-पुलट हो गए हैं। स्त्री अपना मूल स्वरूप विस्मृत करके एक गलत होड़ में पड़ गई है। न इससे उसका अपना कोई हित सधने वाला है न समाज का।”

उर्मिला ने कहा—“समाज के मंगल की किसे फिक्र है!” सब लोग एक अजीब-सी आपाधापी में जीते चले जा रहे हैं। इतना अवसर ही किसके पास है, जरा ठहरकर अपने दाएं-बाएं नजर डाल ले। सच पूछो तो हम एक जबरदस्त अस्वीकार में जी रहे हैं।”

उसकी बात पर मैंने सहमति व्यक्त की—“हा हा तो बिल्कुल यही रहा है। जिसे आप अस्वीकार कहती हैं उसे मैं आत्म बहिष्कार कहता हूँ। वह हमें अनात्म बना रहा है। लगता है अब भारतीय जीवन का एक भी क्षेत्र ऐसा बाकी नहीं बचा है जहां आयातित मूल्यों को आखे मूंदकर स्वीकार न कर लिया गया हो। इससे विघटन के अलावा और क्या स्वस्थ स्थापना संभव है?”

“आप जिसे संपूर्णता कहते हैं वह यहाँ कब और कौन से काल में थी? भारतीय जीवन पद्धति यूरोप के जीवन मूल्यों से कभी बेहतर ही होगी—मुझे तो ऐसा नहीं लगता। सच पूछो तो न हमारे अपने कोई जीवन-मूल्य और सिद्धांत है न हम यूरोप की जीवन पद्धति को निश्चक भाव से ग्रहण कर पाते हैं। हम

उनकी देखा-देखी विज्ञान की ओर लपकते हैं, फिर वह भी हमें अनात्म और विनाशकारी लगने लगता है। हम औद्योगिक सम्पन्नता की दिशा में लपकते हैं फिर हमें उसमें स्वदेशी का हनन दिखाई पड़ने लगता है और अकस्मात् गार्धी जी और उनका निष्कामयोग दर्शन याद हो आता है। उनकी स्मृति का एक अवसाद प्रद रूप कुटीर उद्योग के रूप में उभरता है। दूसरी ओर हमारे राजनीतिज्ञ हम यह समझा रहे हैं कि हमें युग के साथ चलना है तो उदारीकरण की ओर से मुह नहीं मोड़ सकते।”

उर्मिला का विश्लेषण बहुत सटीक था। मैंने कहा—“हां यह तो है। कहना चाहिए यह एक तरह की वैचारिक भ्रांति है जो घोर अराजकता फैला रही है।”

वह विद्रूप से बोली—“मतलब बात राज की ही होनी चाहिए—अराज या जनतंत्र की नहीं?”

मैं बोला—“हम शब्दों को ही पकड़कर न बैठ जाए तो राज का मतलब मात्र राजा नहीं बल्कि व्यवस्था और राज्य भी हो सकता है और व्यवस्था तो किसी भी समाज को चाहिए ही। निजाम का मतलब बस निजाम हैदराबाद ही नहीं है वह भी व्यवस्था के अर्थ में ही है।

“आप राज कहें, निजाम कहें, व्यवस्था कहें, मुझे इस सबसे कोई विरोध नहीं है मगर जब अब जनता तक आएंगे तो इन सारे शब्दों के मुलम्मे उतर जाएंगे। वह बेचारी तो भेड़ सरीखी है जिसे मुडना ही मुडना कपड़े-लत्ते खाना-पीना भाषा-बोलचाल कहा से कैसे उसके ऊपर डाली जा रही है, वह नहीं देखती। बस जो भी आप व्यवस्था के झांसे में उसे दे देते हैं वह झट से अपना लेती है। जिसके घर में यह सब प्रवेश नहीं पा सकता। वह घर परिवार मुख्य धारा से बाहर, कटा हुआ। इस अंधी गति को कौन रोक पाएगा। आप किस संस्कृति की बात करते हैं? बड़ा वर्ण शंकर वर्ण शंकर किया जाता था और उसे घृणा की नजर से देखा जाता था आज वही वर्ण शंकर हमारी मुख्य धारा है।”

मैंने गहराई से महसूस किया कि वास्तव में पंडित मुकुंद माधव, पति के रूप में उसके लिए एक बहुत ही अपर्याप्त व्यक्तित्व सिद्ध हुए हैं। उसके मानसिक क्षितिज छूना और समझना उनके लिए एक असंभव बात है। उसकी प्रखरता—सूक्ष्म भावों की पकड़, स्थितियों का गंभीर विश्लेषण तथा आंकलन अनोखा है। वह उसे घरेलू स्त्री तथा साधारण पत्नी बनाकर रखना चाहें तो वह उस भूमिका में कभी खुश नहीं रह सकती। वह हमेशा प्रतिरोध करने वाली विद्रोहिणी ही बनी रहेगी। पंडित मुकुंद माधव ने शास्त्रों का अध्ययन, अनुशीलन जरूर किया था पर उन्होंने, गंभीरता

से कभी उर्मिला की मानसिकता को समझने का प्रयास नहीं किया था। उनके भीतर वही पतियो वाला स्वाभाविक शैथिल्य था जिसके चलते कोई पत्नी पति की दृष्टि में विशेष अथवा दूसरों से अलग नहीं बन पाती।

उर्मिला को परितोष देने की दृष्टि से मैंने सोचा कि उसकी सारी कड़वाहट को अभिव्यक्ति मिलनी ही चाहिए। मैंने उसका पक्ष लेते हुए कहा—“यह तुम सही कहती हो कि पति नाम का प्राणी किसी पत्नी का सही मूल्यांकन नहीं कर सकता। क्योंकि विवाह के प्रणय क्षणों की उद्दामता को वह देर तक जीवित नहीं रख सकता और थोड़े समय बाद ही वह और तरह का आचरण करने लगता है। वह जिसे ‘आप’ से संबोधित करता है उसे ‘तू’ भी कहते हुए अहसान जतलाता है।

उर्मिला बोली—“कोई अजनबीपन में ‘आप’ कहकर घनिष्ठता के क्षणों में ‘तू’ पर उतर आए इसका तो मैं कतई बुरा नहीं मानती पर वह थोड़े दिनों बाद ही अगर ‘तू-तू मैं-मैं’ पर उतर आए तो क्या कहा जाय। तू में भी गहरा प्यार अभिव्यक्त होता है पर वह ‘तू’ उपेक्षा तो न बन जाए।”

“उपेक्षा तो न ‘तू’ में है न, आप में। असल बात तो यही है कि ‘हमें’ व्यवहार के स्तर पर कितनी घनिष्ठता मिलती है।”

“संबोधन अगर स्पर्श से जुड़े हुए हो तो फिर वह कहीं अनादरणीय नहीं है।”

“आदरणीय हमें कौन मान सकता है? शूद्र और स्त्री इस समाज में एक तरह से घूरे पर फेंका हुआ उच्छिष्ट ही तो है।”

“घूरे पर फेंकी हुई वस्तु को सहेजने वाले हमारे समाज में भी मौजूद है। माणिक्य तो हर स्थिति में मूल्यवान ही होता है।”

“ढूंढ़ते रहिए आप घूरे पर मणियां उनका कद्रदान कोई नहीं है क्योंकि उनकी आधारभूमि श्रेष्ठ नहीं है तो वह उच्छिष्ट और उपेक्षणीय ही है।”

मैं बोला—“देर सबेर उनका कोई न कोई पारखी सामने आता ही है।”

“आता होगा पर तब तक क्या शेष रह जाता है? आपने तो आज सारे दिन की स्थितियां देख ली हैं। मेरी ओर से ऐसा क्या अकरणीय हुआ है कि मेरे साथ वैसा व्यवहार किया गया है। स्त्री का सहज भाव से जीना भी इतना भारी अपराध है कि उसे सारी दुनिया के सामने जलील करने की कोई हद ही न रहे।”

मैंने कहा—“लेकिन जो तुम्हारा सहज प्राप्य है उसे तो किसी भी तरह प्राप्त करना ही चाहिए और इसे मैं अनुचित भी नहीं मानता। अन्याय का प्रतिकार तो हर स्थिति में किया जाना चाहिए।”

उर्मिला उदास स्वर में बोली—“अन्याय का प्रतिकार करने वाली कौन-सी स्त्रिया है? वही न जो उच्च वर्ग से सबध रखती हैं।”

मैने उसके कथन में बाधा दी—“उच्च वर्ग की स्त्रिया तो अपने चारों ओर सुरक्षा की ऐसी बाड़ बनाकर जीती है कि उनसे तो किसी तरह की विद्रोह की आशा ही नहीं की जा सकती।”

“नहीं। उनमें एक वर्ग ऐसा भी है जो वास्तव में ‘रिबेल’ तो नहीं होता ओर न किसी गहरी आंतरिक प्रेरणा से परिवर्तन कामी होता है मगर वह स्वयं को केन्द्र में रखकर यश की लिप्सा से आंदोलन खड़े करने का आभास देता रहता है। उनके द्वारा भी भला किसी का हित सध सकता है? आप देखिए, रात-दिन इस दुनिया में करोड़ों औरतों के साथ न जाने कितनी अनहोनी घटती रहती है। उन्हें कितनी-कितनी तरह की पीड़ाएं और यातनाएं नहीं दी जाती? इन इलीट क्लास की भद्र महिलाओं को कानोंकान खबर भी नहीं होती। सभानेत्रियो को तो बस मीडिया की चमक-दमक चाहिए और इतना ही उनका अभीष्ट भी है।”

“मैं मानता हूं कि स्थिति वास्तव में ऐसी ही है मगर उनके द्वारा जो कुछ भी थोड़ा बहुत हो रहा है उसे बिल्कुल नजरदाज नहीं किया जा सकता। वह थोड़े अश में ही सही निदनीय स्थितियों को उजागर तो कर रही हैं।”

“खाक उजागर कर रही है यह महान् महिलाएं! सभा सोसायटी में अपनी छवि निखारना ही उनका एक मात्र उद्देश्य है। इससे उन्हें विदेशों में जाकर नारी स्वातंत्र्य पीटने तथा औरतों का प्रतिनिधित्व करने का अवसर मिलता है। बाहर से लौटकर आती हैं तो उन्हें भी कोई सरकारी गैर सरकारी अलंकरण या इनाम इकराम मिल जाता है। साधारण औरतों की पूरे एशिया में एक जैसी दशा है। वह बेचारी प्रतिरोध करने का साहस भी करे तो उनके पावों के नीचे जमीन कहा है?”

मैने उसे समझाने का प्रयास किया—“कोई सुगबुगाहट की चिनगारी तो चाहिए ही। उससे माहौल तो बदलने ही लगता है। मैं नहीं कहता कि आप विद्रोहिणी का बाना धारण कर लें पर फिर भी इस दिशा में कुछ प्रयास तो करना ही चाहिए।”

“मुझे नहीं उत्साह होता इस तरह के व्यर्थ प्रयासों को लेकर।” मैने कहा—“मगर कोई रुक भी तो नहीं सकता। चलना ही नियति है, भले ही न दौड़ें पर गतिशील तो रहना ही होगा। समय की कोई सीमा नहीं दिशाओं का कोई अंत नहीं। यो देखे तो आदमी की जिंदगी ही कितनी है। समय के अखंड और अनंत बहाव में सागर की एक बूंद से भी कम।”

“सागर तो मैं नहीं जानती पर अगर हम मनुष्यों की जिदगी वूँट बराबर ही है तो भी ज्यादा ही है। क्या जरूरत है इतनी वेमतलब जिदगी की? फिर आपने कहा कि दिशाओं का भी कोई अंत अथवा सीमा नहीं है तो यह और भी बड़ा धोखा है। किसी के सामने एक ही रास्ता हो उस पर चलते हुए शायद कहीं पहुंच तो सकता है पर जब हर ओर रास्ते खुले पड़े हो तो वह किस मार्ग पर चलकर पहुंचेगा कहा?”

“किसी के भी पास जीवन के प्रश्नों का सामान्यीकृत निदान नहीं है इसलिए एक ही मार्ग सही अथवा पूर्ण प्रशस्त है—कोई नहीं कह सकता। इस मकडजाल सरीखे फैले जगत् को कौन जानता है? बहुत लोग दार्शनिकों के मुखौटे लगाए घूमते हैं और अपने द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को ही सही कहते हैं पर वह हाथी का पांव टटोलने वाले अंधों से जरा भी भिन्न नहीं है। संपूर्णता जैसी कोई वस्तु या विचारधारा यहाँ नहीं है। सब जगह अधूरापन ही अधूरापन है। हम अपनी अपूर्णता को भरने के लिए जीवन के विविध रंगों की तलाश में जुटे रहते हैं। जीवन कितना ही एकरस और निश्चित सी दिनचर्या से बंधा हुआ दिखाई पड़ता हो पर वास्तव में यह अपनी सारी सीमाओं और आधे अधूरेपन के बावजूद विविधता से एकदम खाली नहीं है।”

“पर विविधता देखने वाली आखें भी तो चाहिए।”

“यह तो बहुत ही सरल है। बस इतना भर हो कि आपके भीतर कोई गाठ न हो। आप अपने सामने देखें तो अपार भीड़ चेहरा विहीन नजर आएगी। सभी एक-दूसरे से अनजान, अपरिचित, असंपृक्त चलते-बढ़ते दिखेंगे पर यदि थोड़ी-सी दिलचस्पी और लगाव के साथ उन्हें देखना शुरू कर देंगे तो विस्मय और जिज्ञासा के कितने ही रहस्य खुलते लगेंगे।”

यह कितना चकित कर देने वाला सत्य है कि लगभग वे ही नाक नक्श, वही-वही रंग-रूप मगर प्रत्येक चेहरा अलग-अपनी जबरदस्त मौलिकता की रक्षा करता हुआ। देह का सत्य देखे तो भीतर भी सब कुछ एक जैसा होते हुए भी वास्तव में कुछ भी एक-सा नहीं है। इस वैविध्य में कोई मिलावट नहीं है। यह अपने सपाटपन में भी उतनी ही मौलिक है। जितनी अपने सपाटपन में। आखिर यह क्या है जिसे हम लाख सिर मारने पर भी नहीं समझ पाते, खोजकर भी नहीं खोज पाते। कितना भी कोशिश करके असफलता ही हाथ लगती है। इस विविधता को अविश्लेषित ही मानकर शांत हो जाएं तो गाठों और दुराग्रहों से बच सकते हैं। बिखरने से हमारी रक्षा हो सकती है। हमें स्वयं को प्रस्तुत रखने के प्रति सतर्क रहना चाहिए। स्वागत द्वार खोलकर रखना ही उचित है। हमें प्रतीक्षाएं हमेशा बनी रहती हैं और वह एक सीमा के बाद वह उन्मन बनाती हैं। हमारा द्वार खुला होगा तो कोई

दस्तक देकर नाट नहा जाएगा भागत का पग ध्वनि ही हम अपनी पहचान का कोई सूत्र दे देगी।”

मेरे लंबे व्याख्यान से उर्मिला अप्रतिभ नहीं हुई। अपने धीरज कायम रखते हुए बोली—“आपने बड़ी गहरी और गभीर व्याधियों के निदान खोज डाले पर क्या आपकी दवाओं के बावजूद बीमारिया अपनी जगह जस की तस मौजूद नहीं हैं?”

“है ही! चूक तो सबसे हो सकती है। तर्क, सतर्कता हमेशा कारगर नहीं होते पर फिर भी हमें सन्नद्ध रहने से ही सतुष्टि मिलती है।”

मेरी बात का उत्तर न देकर उर्मिला ने मुंह पर हाथ रखकर होठ थपथपाए और अपनी घड़ी देखकर बोली—“हालांकि वक्त कटने का तो पता नहीं चल रहा है पर लगता है हम लोग घर काफी रात गए तक ही पहुंचेंगे।”

“चलो अब तो देर मवेर पहुंच ही जाएंगे। ट्रेन ने तो ऐसी विकट स्थिति उपस्थिति कर दी थी कि कुछ समझ में ही नहीं आता था।”

दस मिनट भी नहीं बीते होंगे कि बस स्टैंड पर जाकर खड़ी हो गई।

बस से बाहर निकलते हुए उर्मिला बोली—“लोग कहते हैं दिल्ली दूर है पर आज तो यही लगा कि दिल्ली से दूर आपका ही शहर है।”

इस समय बस स्टैंड पर सिर्फ दो रिक्शे मौजूद थे। रिक्शेवाला कोई भी हमारी बस्ती तक जाने के लिए तैयार नहीं था। रात को बहुत देर हो जाने पर हमें ऐसी ही मुसीबत का सामना करना पड़ता था क्योंकि एक तो शहर से यह जगह दूर थी—इसके अलावा रिक्शेवालों को उधर से कोई सवारी नहीं मिलती थी और उन्हें खाली लौटना पड़ता था।

हमारे देखते-देखते ही बस स्टैंड खाली हो गया और दो में से एक रिक्शा सवारी लेकर चला भी गया। जैसे-तैसे मैंने रिक्शे वाले की चिरौरी करते हुए उसे दोनों तरफ का किराया देने की पेशकश की तब कहीं जाकर वह उधर जाने को तैयार हुआ।

दो-तीन किलोमीटर का पूरा रास्ता सुनसान था। हम रिक्शे में बैठकर चल पड़े तो उर्मिला बोली—“आज तो पूरी रात ही दौड़ते भागते बीती। मेरी वजह से ही आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा।”

“आपकी वजह से ही क्यों। क्या मैं ही आपको महारौली लेकर नहीं गया था। न उधर जाते न इतनी देर होती और न शाम वाली गाड़ी मिस होती।”

“गाड़ी कुतुबमीनार देखने में नहीं बल्कि साड़ी खरीदने के चक्कर में निकली। हम पहले वाली ट्रेन से लौटते तो शायद काफी जल्दी घर पहुंच सकते थे।”

मैं बोला—“जो हो, मुझे तो आपसे लगातार बातें करते रहने की वजह से वक्त के बारे में कुछ पता ही नहीं चला।”

यह तो मैं भी मानती हूँ कि बातों में समय का कुछ भी पता नहीं चला। बल्कि मैं तो कह सकती हूँ कि बरसों से मैंने इतनी देर सारी बातें किसी से नहीं की। बातों का भी अपना एक विशेष सुख होता है और फिर आप जैसा वक्ता हो तो क्या कहना!”

“आप भी कोई मामूली चलती-फिरती वक्ता नहीं है। मैंने आज आपर बहुत-सी बातें जानी समझी और सीखी है।”

“रहने दीजिए। मैं ऐसा क्या जानती हू। छोटी-सी जगह में रहने वाले हम लोग बड़ी-बड़ी बातों के बारे में जानते ही क्या हैं।”

“अच्छा है आपको अपने गुणों को लेकर कोई गलतफहमी नहीं है। अन्यथा समाज, धर्म, इतिहास के बारे में जितना कुछ जानती है उतना तो बड़े-बड़े पंडित भी नहीं जानते होंगे।”

हम लोग बातें करते-करते घर तक पहुंच गए। मैंने रिक्शाचालक को भाड़ा चुकाया और दरवाजे की ओर बढ़ते हुए बोला—“असल में अब मुझे अपराध बोध हो रहा है।”

“काहे का अपराध बोध-दरवाजे पर तो ताला ही नहीं है। वह तो जल्दी ही लौट आए होंगे और अब मजे से सो रहे होंगे।”

चाकई दरवाजे पर बाहर ताला नहीं था। पंडित मुकुंद माधव ने भीतर से कुड़ी लगाई हुई थी और कुछ मजे से सो रहे थे।

मैंने कालवेल का बटन दबाया और उर्मिला की ओर देखने लगा। पिछले सात-आठ घंटे से उसके चेहरे पर कोई तनाव नहीं था। वह दोपहर से अभी तक बहुत सहज और मुखर था पर अब उसकी आखों में उद्विग्नता के भाव स्पष्ट उभरे हुए दिखाई पड़ रहे थे। यह संभवतः पति से मिलने वाले संभावित व्यवहार के कारण रहा हो।

दो बार काल ‘बेल’ बजाने पर भीतर से पंडित जी की उनीदी आवाज सुनाई पड़ी “कौन है?.... आते हैं।”

कुछ क्षण बीते कि आंखें मलते हुए पंडित जी ने दरवाजा खोलकर हमें देखा और बोले—“अच्छा तो आप लोग आखिर लौट ही आए?”

आप लोगों की आज रात लौटने की तो मुझे आशा ही नहीं रह गई थी। जब दस्त बज गए तो मैं यह सोचकर सोने चला गया कि संभवतः आप लोग दिल्ली में ही कहीं ठहर गए होंगे। लगे हाथों सिनेमा और ‘कैबरे’ भी देख आते तो अच्छा था। हमारे पिछड़े इलाके में तो यह चीजें अभी तक देखने को मिलती नहीं है।”

उनके शब्द सुनकर मैं सन्न रह गया। मैं यह तो जानता था कि हमसे अलग हो जाने के बाद वह सहज और प्रसन्न नहीं हो सकते थे पर यह मैं कदापि नहीं सोच सकता था कि उनके मन में हम लोगों को लेकर इतनी

जबरदस्त कड़वाहट पैदा हो गई होगी कि वह शालीनता तक गवां बैठेगे। उन्होंने एक बार भी यह जानने की जरूरत नहीं समझी कि आखिर हमें इतनी देर क्यों हो गई।

यद्यपि उनकी बात से मुझे मलाल हुआ तथापि मैंने दरवाजे में दाखिल होते हुए हसकर कहा—“उतनी रंगीन जगह की कल्पना आपने खूब की पर इसमें मुश्किल यही थी कि हमारे साथ कैबरे में जाने के लिए आपके जैसा कोई रंगीन तबीयत आदमी नहीं था। आप साथ होते तो हम एक बार वहां जाने की हिम्मत भी शायद जुटा ही लेते।”

सहन में पहुंचकर मैंने उर्मिला की ओर देखा। उसका चेहरा अपमान से अगार जैसा टहक उठा था। वह व्यग्र से बोली—“जिनको नंगे वदन देखने की चाह होती है वह सबको धता बताकर और उनको उनके हाल पर छोड़कर उन गलियों में पहुंच ही जाते हैं। इस काम को सरंजाम देने के लिए बीवी से रुपये भी छीनने पड़े तो उन्हें कोई परेशानी नहीं होती।”

मैंने उर्मिला से शांत स्वर में कहा—“छोड़िए, आप क्या बेवक्त का राग ले बेटी। अब कपड़े-वपड़े बदलकर रसोई में जाकर देखिए कि आप खाने के लिए क्या कुछ पा सकती हैं।”

उर्मिला ने मेरी बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया वह तुरी से बोली—“आदमी में यह सोचने का विवेक तो बचना ही चाहिए कि वह जिस भले आदमी के घर में रहकर सारी सुविधाएं भोग रहा है कम से कम उसे अपमानित तो न करे। अपनी सकीर्णता और स्वार्थ में अंधे होने की कोई सीमा तो होनी ही चाहिए। कोई मामूली से मामूली आदमी भी इतना ‘कैलस’ नहीं हो सकता।”

पंडित मुकुंद माधव वहीं पड़े एक मोढ़े पर बैठ गए और अपने गले में पड़े जनेऊ को उंगलियों से ऊपर नीचे करते हुए बोले—“इसमें कैलस-वैलस होने की तो कोई बात ही नहीं है। जब किसी को मेरी जरूरत ही नहीं थी और न मेरे साथ रहने की कोई इच्छा शेष थी तो फिर मैं वहां टिककर फालतू में दाल-भात में मूसर चंद क्यों बनता?”

पंडित जी के आरोप से वह और भी ज्यादा भडक उठी और एक लडाकू अंदाज में धरती पर पाव पटककर बोली—“जब कोई खुद को फालतू समझता है तो उसे यहां भी लौटकर आने की क्या दरकार थी? यह कोई होटल या सराय तो है नहीं—एक भले मानुष का घर है। यह तो याद रखना ही चाहिए कि वह एक कैसे प्रतिष्ठित आदमी के घर में शरण लिये हुए है।”

मैंने उन दोनों को शांत करने की नीयत से कहा—“चलिए छोड़िए भा अब इस बहस को। रात वैसे ही बहुत बीत चुकी है। चलकर सोया जाए। सुबह भी देर तक आराम से सोना संभव नहीं होगा। चार बजे सुबह तो बिजली ही गुल हो जाती है।”

पर मेरी बात पर उन दोनों ने ही कोई ध्यान नहीं दिया। लगता था वह दोनों ही सो सकने की मन-स्थिति में नहीं रह गए थे। दोनों के मन में जो ज्वालामुखी धधक रहे थे उनका लावा बाहर फूट आने को मचल रहा था। उर्मिला मेरी ओर मुह करके बोली—“इन्हें किसी के सोने और आराम करने की क्या परवाह? खुद तो खा-पीकर आराम से सो ही रहे थे। मारा-धाड़ा कोई टाइम-बेटाइम अपने घर में लौटे तो बस उसके कपड़े फाड़ने लगे। इससे तो कोई मतलब ही नहीं है कि उस बेचारे पर कहाँ-कहा क्या बीती।”

मैं देख रहा था कि जो उर्मिला मुझसे बातें करते हुए बहुत संयत और शालीन भाषा बोलती चली आ रही थी और उसकी बातों में गंभीर सोच का दखल नजर आता था वही अपने पति से तनकर छिछली और विकृत भाषा में सवाद कर रही थी।

“आप किसी को उकसाकर उसका पशुरूप उभार दे बस फिर देखिए वह कितने नीचे स्तर तक उतर आता है। फिर उससे संयमित भाषा का अनुशासन नहीं निभ पाता। सुसंस्कृत भाषा में बोलकर शायद उसे अपने प्रहार की तीव्रता पर विश्वास ही नहीं रह जाता।”

उर्मिला की चोट से तिलमिला कर पड़ित मुकुंद माधव ने चुनौती-सी देते हुए मुझे देखा और बोले—“कुछ सुन रहे हैं आप महान् लेखक जी? आपकी शह पाकर यह कितनी आधुनिका हो गई है और आपने इसकी कैफियत सुनी? खुद मिया फजीहत—दीगर नसीहत। अब आप अपने घर में भटकते-भटकते आधी रात बिताकर पहुंचे तो उसकी जिम्मेदारी भी मुझ पर? अरे भाई किसने मना किया था कि आप अपने घर में कायदे में समय से न लौटें? जब आपको नौका विहार का शौक चरियेगा, होटलों में घूमने और मटरगश्ती करने का मन होगा। कुतुबमीनार की लाट पर चढ़कर सयोगिता बनने की महत्वाकांक्षा जागेगी तो मुझ गरीब से क्या शिकायत? रही मेरे यहां चले आने की बात। तो मैं पूछता हूं, चाहता ही कौन था कि मैं वहां आप लोगो के साथ बना रहूँ?”

मैंने महसूस किया उर्मिला के प्रति अपने रोष को प्रकट करते हुए वह मुझे भी पूरी तरह लपेटते चले जा रहे थे। साथ ही हमें छोड़कर चले आने पर अपनी सफाई

भी पेश कर रहे थे कि उन्हे साथ में हम रखना ही कब चाहने थे? वह बोले—“हा साहब, यह गलती मुझसे जरूर हो गई कि मैं खामखा इनका बैग अपने ऊपर ओर लाद आया। बेकार का बोझ ढोने की मुझे क्या आवश्यकता थी। मुझे उसमे से कोन इनका रुपया लेना या खर्च करना था?”

उर्मिला रोषाकुल होकर बोली—“लेना क्यों नहीं था? यह क्या कुछ कम लेना हुआ कि मैं जिनके साथ वहां रह गई उनके ही रुपये हर बात पर खर्च करवाऊ।”

“इसके पीछे मेरी वैसी कोई नीयत नहीं थी।”

वह उनकी नकल उतारते हुए बोली—“मेरी वैसी कोई नीयत नहीं थी। जी हा नीयत नहीं थी तो वैसे ही पर्स छीनकर भाग खड़े हुए थे—कि मेरा कोई पैसा खर्च न हो और जो मुझे लेना हो उसे खरीदकर ही लौटूं। मैं ऐसी नीचता भरी मनोवृत्ति पर तानत भेजती हू। आदमी को ऐसी बेलिहाज़ जिंदगी जीने की जरूरत ही क्या है। इससे तो मरना भला।”

मैंने अपना ध्यान उर्मिला की ओर से हटाकर प्रसंग बदलने के विचार से कहा—“पंडित जी आपको घर की चाभी मिलने में तो कठिनाई नहीं हुई?”

“नहीं जी, कठिनाई क्या होनी थी। आपने जिस खोखे पर चाभी सौंपी थी मैं लौटा तो उसी के पास रुककर आपके बारे में मालूम किया। मैंने सोचा था कि शायद तब तक आप वापस लौटे आए हो। मैं भी यहां बहुत जल्दी नहीं लौट आया। भटकते-भटकते पर्याप्त विलंब हो गया था। खोखे वाले पनवाड़ी ने ही बतलाया कि आप अभी तक नहीं लौटे हैं। उसने दोपहर मुझे आपके साथ तो देखा ही था सो उसने मुझे आपका अतिथि समझकर चाभी तुरंत दे दी।”

मैंने बात आगे बढ़ाई—“आपको खाने-पीने में तो कठिनाई हुई होगी। जोखन तो कुछ बनाकर छोड़ नहीं गया होगा?”

“अजी वह बात नहीं है। आपके जोखन महाराज तो अद्भुत व्यक्ति है। उन्हें मेहमानों की आवभगत करने में आत्मिक रस मिलता है।”

“वह कैसे?” मैंने चकित होकर—पूछा—“मैं क्या कल से उनका आचरण देख नहीं रहा हू? बराबर हम लोगो के आतिथ्य में लगे हुए थे। आज भी सबके लिए परांठे सेककर रख गए हैं।”

मैं बोला—“तो चलिए आधा काम तो कर ही गए जोखन महाराज। पर सब्जी का मामला तो ठप्प ही रहा?”

“अजी वाह! ठप्प कैसे रहा? वह बहुत दूर तक की सोचने वाला मिसिर है। कहीं सब्जी बस न जाए इस विचार से वह आलू उबालकर रख गए हैं कि जब कोई

खाना चाहे छीलकर सूखे भून ले।

जब मुझे जोखन के बारे में इतनी सारी सूचनाएँ मिल गईं तो मैंने जानना चाहा कि पंडित मुकुंद माधव भोजन कर चुके हैं अथवा नहीं। मैंने उनसे पूछा—“आपने कुछ खाया पीया या नहीं अभी तक?”

“पहले तो एक घंटे तक मैं आपके लौटने की गह देखता रहा पर जब मुझे यह निश्चय हो गया कि आप सभवतः विलंब से ही लौटेंगे तो मैंने अपना खा-पी लिया।” कुछ क्षण ठहरकर बोले—“यो कुछ भी तैयार न होता तब भी मुझे कोई असुविधा होने वाली नहीं थी क्योंकि मैं एक दो रोज तो बड़े आनंद से निराहार रह सकता हूँ। गुरुकुल के काल से ही प्रत्येक मास में चार-पाच व्रत रखने का अभ्यास तो पड़ा ही हुआ है।”

फिर उन्हें हम लोगों की भूख का खयाल आ गया शायद। बोले—“रात्रि का तीसरा प्रहर प्रारंभ हो चुका है। अब आप कपड़े-वपड़े बदलकर यथाशीघ्र पेट में कुछ डाल ले। गर्मी की रात तो वैसे ही बहुत छोटी होती है। थोड़ी देर लेटेंगे इतने में ही ब्राह्म मुहूर्त आ जाएगा।”

फिर पंडित मुकुंद माधव ने अपने हिसाब से तो परिहास ही किया—वह चाहे समीचीन रहा हो या न रहा हो—“वैसे सच बात तो यह है कि यह निशाचरों की भक्षण बेला है। यों भी खाने-पीने में तो अब यह निशाचरी वृत्ति ही सब कहीं व्यवहार में आ चली है। सफर करते हुए मैं स्टेशनों पर प्रायः देखता हूँ कि लोग गाड़ी के ठहरते ही खोचेवालों की दिशा में बगटुट भागते हैं और पूरियाँ, हलवा, पकौड़ी, चाय, जो भी अल्लम-गल्लम हाथ लगता है भकोसने लगते हैं। यह हमारे भारतीय आचार के तो विपरीत है ही—विदेशों में भी लोग इस तरह आधी पिछली रात कुछ खाते पीते होंगे, मुझे नहीं लगता।”

मैंने सहमति जतलाई—“आप यह बात ठीक ही कहते हैं। मुझे यही चिंता थी कि बाजार की कोई चीज आप खाते नहीं हैं। जोखन भी कुछ न बनाकर गया होगा तो आपको भूखे ही सोना पड़ेगा।”

“नहीं नहीं वह बात एकदम नहीं है।” मुझे आश्चस्त करते हुए, बोले—“मेरा ग्रामीण परिवेश का हूँ इसलिए बाहर सफर पर निकलने से पहले चने-मुरमुरे और गुड की डली एक पोटली में बांध लेता हूँ। फिर दो-चार शाम भी भोजन न मिले तो कोई चिंता नहीं रहती।” फिर जैसे उन्होंने रहस्य की बात बतलाई—“एक बात आपको और बतलाऊँ। विवाह से पहले अनेक वर्षों तक मैंने अपना भोजन स्वयं तैयार किया है। मैं तो आज भी चार प्राणियों को बनाकर खिला सकता हूँ।” और

यह कहकर उन्होंने दर्प से उर्मिला की ओर देखा।

उर्मिला की आखें कहीं और लगी थीं। वह चुपचाप चिन्तामग्न बैठी थी। उसने अपने पति की बातों पर कोई टिप्पणी नहीं की। पर मुझे पंडित मुकुंद माधव की यह बात बहुत अटपटी लगी कि अपनी पत्नी की उपस्थिति में वह स्वयं को होशियार रसोइया बनाने के फेर में यह भी विस्मृत कर बैठे थे कि कोई भी पत्नी अपने पति की यह बात सहन नहीं कर सकती कि वह चाहे जहां इस बात का ढिंढोरा पीटता फिरे।

मुझे पंडित जी एक बहुत ही निरीह बल्कि एक तरह से बुद्धू ही लगें। वह अपनी पत्नी को प्यार भी करते थे और उसके मुआफिक बनने का कौशल भी उन्हें नहीं आता था। न वह उर्मिला को अपनी तरह बना पाए थे और न स्वयं उसके अनुरूप ढल पा रहे थे। वह आधी रात पत्नी के लिए खुशी से खाना बनाने को तैयार थे मगर उसकी प्रसन्नता के लिए उसके साथ घूमने-फिरने से कतराते थे। मेरा आदर भी करते थे—मेरे प्रति अविश्वासी भी नहीं थे पर पत्नी को मेरे साथ छोड़कर निरुद्विग्न भी नहीं थे। पत्नी को प्रसन्नता भी देना चाहते थे पर अपनी कृपण वृत्ति के कारण यह भी पसंद नहीं करते थे कि वह कुछ खरीदने पर रुपया व्यय करें। दरअसल वह विचित्र अतर्विरोधों से ग्रस्त पति थे।

मैंने कहा—“पंडित जी, आप तो वास्तव में एक बड़े जबरदस्त गुणी व्यक्ति हैं। पाक शास्त्र में आपकी गति के बारे में जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। किसी दिन आपका यह जौहर भी आजमाया जाएगा।” अपनी बात खत्म करके मैं अपने जूतों के तस्मे खोलने लगा।

उर्मिला को ध्यानमग्न देखकर मैंने कहा—“अब आप भी कपड़े बदलकर कुछ खा लीजिए। रात बहुत जा चुकी है। दिन भर घूमते-घामते थक भी गई होंगी। थोड़ी देर सो जाएंगी तो तरोताजा हो जाएंगी।”

शायद काफी देर से वह मेरे और अपने पति के बीच होने वाले वार्तालाप को सुन नहीं रही थी। सुना होता तो शायद अब तक उसका रोप कुछ ढीला पड़ गया होता। वह किंचित झुझलाहट के साथ बोली—“मेरा थकना क्या? मेरे लिए कौन स्वर्ण शैया बिछाए इतजार कर रहा है?”

मैंने उर्मिला के रोष को हल्का बनाने के लिए हंसते हुए कहा—“अरे आप कहा सोने के पलंग पर सोने के चक्कर में पड़ती हैं, फिलहाल पलक पांवडों से ही काम चला लीजिए। वैसे भी स्वर्ण में तो कलियुग का वास कहा जाता है।”

मैं महसूस कर रहा था। उन दोनों को एक-दूसरे से जो भरपूर शिकायतें

थी उन्हें उन दोनों में से कोई भी नहीं पचा पा रहा था। वह इसी समय सारा हिसाब चुकता कर लेना चाहते थे। वह दोनों मरे मेहमान थे। अगर मैं उन दोनों की चख-चख के प्रति गभीर रुख धारण कर लेता तो वह झगड़े वाली स्थिति रात के उस प्रहर तो स्थगित हो ही सकती थी मगर उस तरह का व्यवहार मुझे शोभनीय नहीं लग रहा था। मैं अपनी एक रात की नीद बचाने के फेर में उन दोनों के प्रति सख्त रवैया नहीं अपना सकता था। मैं यदि वातावरण को सहज बनाने के लिए कोई विनोदपूर्ण बात कहता या परिहास करता या उसे भी उनमें से कोई एक इतना खींच देता था कि स्थिति सहज होने के बजाय और भी अधिक तनावपूर्ण हो उठती थी।

मैं बोला—“अरे भई कुछ खाया पीया तो जाए तब ही कोई स्थिति बन सकती है।” मैंने उर्मिला की ओर देखकर पूछा—“अगर हम लोग एक-एक प्याला काफी पीएं तो कैसा रहे?”

पंडित जी बोले—“मैं तो खैर इस तरह के विष पीता ही नहीं हूँ पर मैं आपको भी यही सलाह दूंगा कि इस पेय से इस समय दूर ही रहे तो उत्तम है क्योंकि मैंने देख लिया था—घर में दूध की एक बूंद नहीं है। देर तक बिजली न रहने के खयाल से शायद जोखन महाराज सारे दूध की दही जमा गए हैं। उन्हें डर रहा होगा कि गर्मी के कारण कहीं सारा दूध फटकर खराब न हो जाए।”

चूंकि पंडित जी ने हमें काफी पीने के लिए मना किया था इसलिए उर्मिला ब्लैक काफी पीने की जिद पकड़कर बोली—“मैं आपके और अपने लिए अभी दो प्याले काफी तैयार करती हूँ। मुझे तो सोने से पहले यो भी काफी का एक प्याला पीना अच्छा लगता है।”

पंडित मुकुंद माधव ने कहा—“कुछ लोगों को कड़वाहट उगलने के लिए पहले कड़वाहट भरपूर मात्रा में पीनी पड़ती है।”

“दूध पीकर भी जहर उगलने वाले जीव इस दुनिया में कुछ कम तो नहीं हैं। हम तो फिर भी कड़वापन पीकर ही कटुता उगलते हैं।”

पंडित मुकुंद माधव उर्मिला के इस तुर्की ब तुर्की उत्तर से घोर अपमानित हो उठे और रसोई की ओर जाती उर्मिला पर कटाक्ष करते हुए बोले—“देख रहे हैं आप? यही है नारी स्वातंत्र्य? तुलसीदास ने क्या यह बात सैकड़ों साल पहले ही नहीं कह दी थी ‘जिमि स्वतंत्र हो बिगैर नारी।’ लगता है यह दुनिया ही समरी ज्वालामुखी के मुहाने पर खड़ी है। किसी से कुछ भी कहने का धर्म नहीं रह गया है।”

उमिता किचन मे चली गई तां मन उन्हे शात करत हुए कहा—“अरे छोड़िए पंडित जी। आप भी इतनी छोटी-छोटी और मामूली बातों से क्यों उत्तेजित हो उठते हैं। मैं तो कहता हूं कि आप औरतो की बातों पर ज्यादा ध्यान ही मन दीजिए। अब्बल तो वह यह जानती ही नहीं है कि कब क्या कह रही है। यदि जान बूझकर भी कुछ कहती है तो उन्हें इस बात का पता नही रहता कि उनकी उस बात का क्या परिणाम निकेलगा। बेहतर तो यही है कि आप उनकी बात सुनकर भी अनसुना कर दें। इतिहास के अधिकांश दुःखद प्रसंग त्रिया-कलह को लेकर ही तो है।”

वह कहने लगे—“मैं आपकी बात सौ प्रतिशत ठीक समझना और मानता हूँ मगर यह भी एक वास्तविकता है कि आप बड़ी-से-बड़ी चोट सहन कर सकते हैं पर नारी द्वारा अपमानित होना नहीं झेल सकते। प्रत्येक घाव समय के अंतराल से भर जाता है किंतु नारी द्वारा अपमानित पुरुष का व्रण सदैव हरा बना रहता है। उच्चरित शब्द ही बेधक शक्ति का प्रमाण है क्योंकि उसे कोई कुल्हाड़े से भी नहीं काट सकता! दुर्वचन से बड़ा कोई घातक अस्त्र संसार में नहीं है।”

मैं बोला—“नारी ही क्यों? दुर्वचन में क्या स्त्री क्या पुरुष?”

“आप मेरी बात नहीं समझे। मैं किसी भी स्त्री की बात नहीं कर रहा हूँ। यहां स्त्री विशेष अर्थात् वह आपकी प्रेमिका या पत्नी होकर आपसे कठोर व्यवहार करे या आपको अपमानित करे तो यह एक असह्य स्थिति होती है।”

मैंने पूछा—“मैं इस संबंध में अधिक तो कुछ नहीं जानता केवल जानने की जिज्ञासावश ही पूछ रहा हूँ कि यदि कोई प्रेमी या पति अपनी प्रेमिका अथवा पत्नी को कठोर वचन कहकर अपमानित करने लगे तो क्या स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की होगी? पुरुष को कटु वचन स्त्री कहती है तो इसमें अपमान अधिक है और यही कार्य पुरुष स्त्री के प्रति करता है तो स्थिति उतनी नाजुक नहीं है। यह भेद क्यों?”

“यह भेद है और हमेशा रहेगा। स्त्री के कठोर वचन दुःसह है!”

मैंने पंडित जी से कहा—“मैं समझता हूँ इसमें स्त्री पुरुष का भेद महत्वपूर्ण नहीं होना चाहिए। दरअसल मंशा ही जानने का प्रयास करना अपेक्षित है। आप जानते हैं कि कुछ भी कह देने के पीछे तो कोई परिश्रम होता नहीं है। कोई लाख देने की बातें कहकर डींगें हाकने लगे, तब भी किसी के हाथ पल्ले क्या आने वाला है। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि बात कोई कम नहीं है। कभी-कभी तो वह कर्म के भी विरुद्ध जाती है। जब क्रोध में आप किसी को कहते हैं ‘मेरे सामने से हट’

जा—नहीं तो तेरा मैं खून कर दूंगा।' तो क्या आपका मशा उसकी हत्या करने का होता है? हो सकता है यह कटोर वचन आप उसके प्रति अत्यधिक प्यार होने के कारण ही बोल रहे हो।"

पंडित जी मेरी बात गुनकर सोच में पड़ गए और दो-तीन मिनट तक चुप रहकर बोले—“बात तो आपकी शत-प्रतिशत सच्ची है। होता तो ठीक यही है जो आपने अभी-अभी कहा।"

मैं बोला—“पंडित जी हमारे भीतर तो कुंटाएं दुर्बलताएं, हताशाएं पलती चली जाती हैं वही दुर्वचनों के रूप में व्यक्त होती हैं। यह एक स्वस्थ स्थिति ही कही जाएगी कि हम उस शब्द देकर बाहर धकेल देते हैं। मन में मनस्ताप रखेंगे, वह भीतर ही भीतर कुंठा के घाव पैदा कर देगी। अभिव्यक्ति उसका स्तर चाहे कैसा भी हो हमें भीतर के सताप से मुक्त करती है। कोई दुःख गुंथेपन के सहारे नहीं कट सकता। मैं तो समझता हूँ कि भाषा का आविष्कार भीतर-ही-भीतर उबलते रहने वाले भावों को किसी तरह बाहर फेंक देने के निमित्त ही हुआ होगा। बोलकर हम भीतर के बोझ से उसी प्रकार खाली हो जाते हैं जैसे वादल खूब बरसकर खाली और हल्के हो जाते हैं। किसी भारी दुःख में रो या बोल लेने से हमें राहत मिल जाती है हालांकि दुःख फिर भी अपनी ही जगह बना रहता है और उसकी प्रकृति भी ज्यों की त्यों रहती है।"

पंडित मुकुंद माधव मेरे कहे हुए शब्दों पर कई मिनट तक गंभीर मनन करते रहे और फिर बोले—“आपने बड़ा गहरा मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित किया है और करेंगे भी क्यों नहीं, आखिर आप एक सिद्धहस्त शब्द शिल्पी भी तो हैं। यह बात बहुत बड़ा सच है कि किसी भारी दुःख में रो या बोल लेने से हमें राहत मिल जाती है। इसी प्रकार बात का घाव भी कभी खत्म नहीं होता वह भी हमेशा हरा बना रहता है।"

मैं बोला—“जहां तक बात का संबंध है उसको प्रभावशाली बनाने के लिए हम खूब चीख-चिल्लाकर अपना पक्ष प्रस्तुत करने लगते हैं और हमें अपने आवेश को लेकर कोई अनुमान भी नहीं होता कि उसका दूसरे पक्ष पर क्या असर पड़ रहा है। हां जब वह भी उसी शैली में अपना पक्ष सामने रखने लगता है तो हमें परेशानी अनुभव होने लगती है। यह कैसी विचित्र पहेली है कि हम चाहते हैं दूसरा तो अपनी बात माधुर्य मंडित करके सामने रखे और हम लड़मार ढंग से।"

पंडित जी समझ गए कि प्रकारांतर से यह बात जैसे उन्हीं को ध्यान में रखकर कही है। उन्होंने गौर से मेरा चेहरा देखा और अपनी ठुड़ी खुजलाने लगे।

इसी समय उर्मिला ट्रे में दो प्याले काफी और पराठे लेकर आ गई। मेरे सामने एक स्टूल लाकर रख दिया और उस पर ट्रे रखकर वापस किचन की ओर लौट गई। इस बार वह लौटी नो एक प्लेट में आलू फ्राई करके ले आई।

मुझसे बोली—“वैसे नो अब ढग से कुछ खाने का समय नहो रह गया है पर आपने तो सुबह से ही कुछ नही खाया। बिना खाए नीट भी नहीं आएगी शायद। इसलिए थोड़ा-सा कुछ खा जरूर ले।”

मैंने कहा—“आपका यह सोचना एकदम सही है मगर आपकी भी स्थिति मुझसे कुछ अलग तो नहीं है। आप एक खाली प्लेट भी तो लाइए जिससे कि थोड़ा सा खाना आप भी ले ले।”

वह ना मुच करने लगी तो मैंने काफी का प्याला उठाते हुए कहा—“तो फिर मैं अकेला निशाचर बनने की जहमत नहीं उठा सकता।”

हारकर उसे दूसरी प्लेट लानी पड़ी और उसने चार पराठों में से केवल एक ही उठाया। मैं कुछ कहता इसके पहले ही उसने कह दिया कि वह सिर्फ साथ देने के लिए खा रही है, वास्तविक भूख उसे कतई नहीं है।

मैंने काफी का घूट भरा तो उसकी कडवाहट से मेरा मुह एकदम कसैला हो गया। कहा तो काफी दूध में पीने का अभ्यास था, कहा यह एकदम दूध विहीन काफी थी फिर इसमें चीनी भी शायद कुछ कम ही पड़ी थी।

मेरे चेहरे का भाव देखकर उर्मिला बोली—“काफी एकदम रही बनी है न?”

“रही या नफीस बनाने का आपको अवसर ही कहा था? और भाई जब दूध नहीं है तो काफी इससे अलग ढग की बन ही कैसे सकती थी?”

“कडवी लग रही है तो आप इसे छोड़ दीजिए। जायका खराब करने से क्या लाभ?”

मैंने दो-तीन घूट लेकर काफी समाप्त कर दी और खाली प्याला स्टूल पर टिकाते हुए बोला—“इस तरह की काफी शायद इसी तरह पी डालनी चाहिए।”

उर्मिला बोली—“कडवेपन को स्वाद लेकर कौन पी सकता है।”

मैं बोला—“सत्य और सौंदर्य के देवता शिव।”

“मैं तो कोई शिवानी नहीं हू। साधारण बुद्धिहीन औरत हू।”

“कोई बात नहीं। आप थोड़ा मधुर सभाषिणी और उर्मिल हो जाए तो बात बन जाए।”

“मैं ठहरी कलहप्रिया—मधुर सभाषिणी किस तरह हो जाऊंगी।”

मैंने पराठे का एक टुकड़ा तोड़ा और उसे आलू की सब्जी में लपेटने लगा

एक तभी पडित मुकुंद माधव उठल हुए बोल एक क्षण टहरिए मैंने देखा था कि दही जमी रखी है। सुबह तक तो वह खड़ी हो चलेगी। इसी समय निपटा देगे तो उसका सदुपयोग हो जाएगा और आपको भी सूखे सूखे ढग से नहीं खाना पड़ेगा।”

पडित मुकुंद माधव रसोई की तरफ चले गए तो मैंने उर्मिला की ओर देखकर कहा—“कभी-कभी आदमी के शब्दों से कितनी क्रूरता व्यक्त होती है पर उसी समय उसका आचरण कितना महत्वपूर्ण हो उठता है। अब इन्हीं महाराज को लो। कितना उबल रहे थे। क्रोध में एकदम दुर्वासा जैसे हो उठते हैं। जैसे सबको फूंककर रख देगे मगर अब हम लोगो की कितनी चिंता कर रहे हैं कि हमें सूखा-सूखा न खाना पड़े। वह स्वयं तत्परता से रसोई से दही लाने गए हैं। इसीलिए मैं कहता हूं, मनुष्य के शब्दों पर अटककर नहीं रह जाना चाहिए।”

“ऐसे ममत्व से क्या हासिल? जब आप अपने शब्दों के अंगारों से किसी को जलाकर रख दे तो फिर व्यवहार के ठंडे जल से उस पर पानी डालना क्या हुआ? भस्म पर पानी डालना मेरी दृष्टि में व्यर्थ ही है।”

इसी समय पडित जी दो कटोरियो में दही डालकर ले आए। दही की ऊपरी पर्त पर नमक मिर्च भुना हुआ जीरा सभी कुछ पड़ा हुआ था।

उन्होंने एक कटोरी मेरे सामने रख दी और दूसरी उर्मिला की ओर देखे बिना उसके परांठे की प्लेट से सटाकर रख दी।

यह करने के बाद वह हम दोनों का खाना खाते छोड़कर कमरे से बाहर चले गए।

मैंने उर्मिला से कहा—“अब तुम्हीं देखो इन महाराज को—हम लोगों का कितना खयाल है? पता नहीं रसोई से नमक, मिर्च, जीरा कहां-कहां से खोजबीन करके लाए होंगे। इसीलिए मैं कहता हूं कि तीक्ष्ण तीर को तरकस में ही सुरक्षित रखना चाहिए। एक बार आप उसका इस्तेमाल कर बैठेगे तो वह वापस तरकस में नहीं आ पाएगा। बस दूसरे को इतना आभास देते रहना काफी है कि आपका तूणीर खाली नहीं है। अगर जरूरत पड़ेगी तो आप अपने तीर का प्रयोग कर ही डालेंगे।”

“इन्होंने मुझे इतना-इतना सताया है कि इनका कोई भी काम मेरे भीतर कृतज्ञता का भाव नहीं जगाता। ऐसी स्थितियों में मीठा बोलना भी मुझे बहुत बनावटी लगता है। जो आदमी आपसे हमेशा क्रूरता का व्यवहार करता रहा हो उसका कोमल होना भी उसके प्रति सशय पैदा करता है कि पता नहीं इस आचरण के पीछे उसका कौन-सा कुटिल मंतव्य छिपा हो।”

मैं देख रहा था कि उर्मिला ने दाते करते-करते पूरा पराठा धीरे-धीरे समाप्त कर दिया था पर दही को हाथ भी नहीं लगाया था। मैंने पराठों वाली प्लेट से एक पराठा उसकी तश्तरी में रखते हुए कहा—“मैं इतने नहीं खा सकता आपका एक पराठा दही के साथ खाना पड़ेगा।”

उर्मिला तनकर बोली—“मुझे दही वैसे ही पसंद नहीं है। खा भी लेती हूँ तो मेरे गट्टो और घुटनो में दर्द हो जाता है।”

“कोई बात नहीं है, वायु के दर्दों की दवा मेरे पास है। दही नहीं खाओगी तो पंडित जी का अपमान होगा।”

“इसमें अपमान की क्या बात हुई? जिस चीज को खाने से मुझे नुकसान होता है उसे क्यों खाऊँ? फिर जिन्होंने मेरे सामने दही की कटोरी लाकर रखी है, वह क्या नहीं जानते हैं कि जैसे वह चाय काफी नहीं पीते उसी तरह मैं भी दही नहीं खाती हूँ। क्या आप उन्हें चाय-काफी पिला सकते हैं?”

“अगर तुमने उनके लिए भी काफी का एक प्याला बनाया होता तो आज मैं उन महाराज को काफी पिलाकर ही रहता।”

“आप सूरज को पश्चिम से उदित नहीं कर सकते।”

“कर सकता हूँ।”

“वह कैसे?”

“मैं हिप्नोटाइज करके मनवा सकता हूँ कि सूरज पश्चिम से निकल रहा है।”

“यह तो सूरज का पश्चिम से निकलना नहीं हुआ।”

“हमने ही तो दिशाएँ तय की हैं कि इधर पूरब है उधर पश्चिम है। यह भी तो हो सकता है कि जिधर हम पूरब मानते हैं वह वास्तव में पूरब हो ही नहीं।”

“मानने न मानने से ध्रुव सत्य बदल नहीं जाते। उनके पीछे न जाने कितनी वैज्ञानिक सोच और शोध होती है।”

मैं बोला—“कालांतर में इन सत्यों और शोधों को भी निरस्त करके और नए सत्य प्रतिपादित होते हैं। कितने समय तक पृथ्वी को गोल स्वीकार नहीं किया गया बल्कि पृथ्वी को गोल कहने वालों को सूली पर चढ़ा दिया गया। आज तो छोटे से छोटा बच्चा भी जानता है कि पृथ्वी गोल है।”

“पृथ्वी गोल है या चपटी इस समय इस विवाद को बढ़ाने का कोई प्रयोजन नहीं है।” और यह कहकर उसने दही की कटोरी मेरे सामने सरका दी और बोली—“यदि आप अपने पंडित जी को दुखी और अपमानित नहीं देखना चाहते तो उनके वापस आने से पहले इसे भी ठिकाने लगा दीजिए।”

मैंने कोई हीला हवाला नहीं किया और दही एक बार में ही पीकर समाप्त कर दी और खाली कटोरी उसकी खाली प्लेट में रखकर बोला—“अब अगर वह आ जाए तो यह देखकर उनकी आत्मा पुलकित हो उठेगी कि तुमने उनके द्वारा प्रस्तुत दही का अस्वीकार नहीं किया।”

उर्मिला मुंह विचकाकर बोली—“रेत की दीवारे सीमेंट के पलस्तर से नहीं टहरती।” यह कहकर उर्मिला ने खाली बर्तन उठाए और रसोई में रखने चली गई।

जब वह लौटी तो मैं बोला—“लगता है पंडित जी सोने चले गए। उनकी नींद में आज बहुत खलल पड़ा। पर चलो अच्छी बात यही हुई कि उन्हें अब यह पता नहीं चलेगा कि जो दही की कटोरी उन्होंने तुम्हारे सामने लाकर रखी थी वह तुमने नहीं मैंने ही उदरस्थ कर डाली।”

उर्मिला ने पूछा—“इससे क्या ही जाएगा?”

मैं बोला—“जहां तक शब्दों का सवाल है उनकी गोलंदाजी तो दाम्पत्य जीवन में चलती ही रहती है पर छोटी-छोटी बातें बहुत महीन मार करती हैं। आदमी न कुछ सी बात पर तिरस्कृत अनुभव करने लगता है। आप घनिष्ठ संबंध में बंधे होकर किसी को कुछ दें और वह लेने से इनकार कर दे, फिर चाहे वह इनकार किसी भी कारणवश हो—आप अपमान से सिहर उठते हैं। आपके भीतर विना बात के एक ऐसा अभिमान जागता है जो अपमान बोध से आपको तड़पा देता है। प्यार से दिया गया एक फूल कितनी बड़ी सौगात कितना बड़ा उपहार है, क्या यह भी बताना पड़ेगा?”

उर्मिला इठलाकर हसते हुए बोली—“मुझे क्या पता कि एक फूल आप किसी को दें तो उसका क्या आशय है। मुझे तो कभी किसी ने कोई फूल दिया नहीं।”

“नहीं दिया तो कोई बात नहीं। मेरे लॉन में इन दिनों कितनी ही बेरायटी के गुलाब खिले हैं। सुबह किसी को देकर देखना कि देते समय क्या अनुभूति होती है और यह देना कैसा लगता है।”

उर्मिला लंबी सांस खींचकर बोली—“अब शायद कैसा भी नहीं लगेगा। होता होगा कोई समय जब इन बातों का कोई मतलब होता होगा।”

“यही तुम बड़ी भूल करती हो। हमारा मन बहुत विचित्र है। हम समझते हैं मन बुझ गया है और हम बुढ़ा गए हैं पर वास्तव में यह एक बहुत बड़ा धोखा है। सहसा किसी क्षण ऐसा कुछ घटित होता है कि हम अनजाने में कुछ और हो उठते हैं और बिल्कुल अलग तरह का व्यवहार करने लगते हैं। तब कोई हमें दर्पण दिखा दे तो चकित होकर पूछते हैं—“अरे ये मैं हूँ?”

उर्मिला ने उत्सुकता से पूछा—“आपके साथ कभी ऐसा होता है?”

“पहले की तो अब याद नहीं पर अब तो दो दिनों से ऐसा निरंतर हो रहा है।”

उर्मिला ने बहुत मासूमियत से पूछा—“सच?”

“सच नहीं तो और क्या।”

“पर यह पति-पत्नी के बीच कभी घटित नहीं होता होगा। वहाँ नया रह भी क्या जाता है? दैहिकता-ऐंद्रिय आकर्षण का पटाक्षेप है।”

“मैं नहीं मानता। दैहिक स्वरूप भी बराबर बदलते हैं। देह को छिपाना भी एक कला है। जितना इसे उजागर करना उद्दीप्त करता है उससे कहीं अधिक छिपाना उत्तेजित करता है। सारी कलाएं हमारी दैहिकता से जुड़ी हुई हैं। कितने पति जानते हैं कि गुंथे हुए बालों की वेणी की सुंदरता सद्यः स्नाता के पीठ पर फैले अनियंत्रित बालों के सौंदर्य का पासंग भर भी नहीं है।”

मेरी बात पर उर्मिला हस-हसकर लोट-पोट होने लगी? जब उसकी हंसी थमी तो उसने अपनी आंखों को पोंछते हुए कहा—“आप तो हास्य रस की कविता बड़ी कुशलता से कर सकते हैं।”

“मैं और हास्य की कविता?” मैंने चकित होकर पूछा।

“हां जो वह पेशेवर हाम्य कवि नहीं कर सकते—अर्थात् सयोग शृंगार में हास्य। नखशिख वर्णन उर्फ इद्रजाल का जादू।”

मैंने कहा—“तुम बड़ी दुष्टता कर बैठती हो कभी-कभी। मैं इतनी देर से तुम्हें रिझाने के लिए एक से एक अच्छी और बारीक उपमा बता रहा हूँ और तुमने उन सारी गंभीर बातों को एक झटके में उड़ा दिया। फूल देने की बात कही—काली घटा से उमड़ते सद्यः स्नाता के अलक जाल की बात कही पर तुम कहीं नहीं ठहरें।”

“मैं जानती हूँ कि यह अलक जाल की बातें करने वाले अथवा फूलों की बातें करने वाले वास्तव में इनसे नहीं जुड़ते। इनका मोहपाश सिर्फ लुभानेवाली बातों तक ही होता है। जीवन में आने कभी नहीं देते। आपके पंत जी ने कितने अलक जाल की बातें कही हैं पर ‘बालों के बाल-जाल में’ उलझे नेत्रों को साफ बचाकर ले गए। इसी तरह ‘लाई हूँ फूलों का हार लोगी मोल लोगी मोल’ की बोलों बोलकर चले गए। किया कभी किसी को एक गुलाब समर्पित?”

मैंने कहा—“हिम्मत नहीं कर पाए होंगे बेचारे।”

उर्मिला ने पूछा—“अपने लॉन में उगे गुलाबों को आपने किस पेश किया?”

“सोचता हूँ, अब तो मौका आ ही गया है—कर ही डालूँ किसी को समर्पित।”

“
क
हैं
वि
ले
हर
को
पर
इस
है।

“कर डालिए अगर कोई सुपात्रा मिल जाए।”

मै बोला—“ठीक है सुबह देखूंगा। अब तो सोया जाए, थोड़ी-सी रात ही तो शेष बची है।”

“ठीक है” कहकर उर्मिला उठी और अपने कमरे की ओर जाते हुए बोली—“अब आप जाकर सो जाइए नहीं तो सुबह आलस सताएगा।”

उर्मिला ‘शुभरात्रि’ कहकर सोने चली गई।

मैं अपनी स्टडी में जाकर दीवान पर लेट गया और सोने से पहले अभ्यासवश एक किताब उठा ली। मैं देर तक पन्ने पलटता रहा पर नींद के स्थान पर उर्मिला से खूब हुई बातों की अनुगूंज ही मन में तरगायित होती रही। उसकी एक एक करके कई छवियां, कई मूड्स मानस पटल पर उभरते रहे। उसकी निराशाएं, दिलन्दरापन, उन्मुक्त व्यवहार और बेबाक हसी मेरे आस-पास मंडराती रही। पता नहीं उसको लेकर क्या-क्या सोचते हुए मुझे कब नींद आ गई।

लेह
और
सम
सम
खाई
अवि
सम
किस
किय
लिए
एक
गाटने
केल
ने अ
को दू

18

सुबह उर्मिला सोकर उठी तो मुझे वह खूब सहज लगी। लगता था पिछले दिन की थकान और रात की कलह वह पूरी तरह भूल चुकी है। पंडित मुकुंद माधव अलस्सुबह घूमने निकल गए थे और अभी तक लौटे नहीं थे।

मैंने उर्मिला के उठने से पहले ही अपनी छोटी-सी बगीची से सुर्ख गुलाब के कितने ही फूल तोड़कर एक छोटी-सी डलिया में सजाकर अपने अध्ययन कक्ष में रख दिए थे।

उर्मिला के उठने से पहले ही मैंने चाय बनाकर टीपाट में टिकोजी से ढककर कमरे में रख दी थी। वह उठकर बाथरूम गई और कुछ ही मिनटों में मुंह-हाथ धोकर कमरे में आ गई।

मैंने टिकोजी हटाकर टीपाट से प्याले में चाय उंडलते हुए पूछा—“आप पहली चाय प्याले में पीती है या काच के गिलास में?”

“क्या आप पहली चाय यानी ‘बेड टी’ के बारे में पूछ रहे हैं?”

“जी हां, पहली चाय मेरे लिए तो वही है। कुछ लोगों के लिए बाकायदा पहली चाय का मतलब होता है—कुल्ला दतौन से निपट लेने के बाद सुबह का अखबार पढ़ते हुए इत्मीनान से चाय पीना। यह चाय अखबार की खबरों के साथ ही हमारे भीतर प्रवेश पाती है। मेरे एक मित्र ऐसे भी हैं जो यदि एक घंटे में अखबार खत्म करते हैं तो चाय का अंतिम घूट भी अखबार की आंखों के आगे से हटाने के साथ ही लेते हैं।”

“बेड टी तो तभी न बेड टी होती है जब आपको बिस्तर पर ही कोई लाकर दे? पर अपना भाग्य ऐसा कहां? इसलिए पहली और दूसरी चाय में अपन के लिए कोई अंतर नहीं है।”

“खैर हाल फिलहाल तो आप फर्क कर सकती हैं। चाय हाजिर है। वस यह आप पर है कि प्याले में लेंगी या गिलास में।”

“जो भी हो, आप दो दिन में ही इतनी आदत बिगाड़ देंगे कि बाट में जब यह क्रम आगे नहीं चल पाएगा तो दुःखदारी हो उठेगा।”

“शायद मैं पहले भी कह चुका हूँ कि प्रस्तुत क्षण के सुख को मात्र इसलिए न भोगना या स्थगित कर देना कि कल अथवा परसों वह नहीं मिल पाएगा। अव्यक्त दर्जे की मूर्खता और निराशावादी नजरिया है। हम उस अप्रस्तुत क्षण को लेकर दुखी ही क्यों हो जायें तो आएगा नहीं या हम उस तक पहुँचेंगे नहीं।” मैंने बातें करते-करते कांच के गिलास में चाय डालकर उर्मिला की ओर बढ़ा दी।

उसने चाय का गिलास पकड़कर कहा—“आप लाख सोचें या कहें मगर वर्तमान से नजर हटकर उधर जाती जरूर है। यह तो केवल पशु-पक्षी ही है जो प्रस्तुत क्षण के अतिरिक्त कहीं और न जीते हैं और न जीना जानते हैं। हम मनुष्य तो सुखद से सुखद प्रस्तुत को छोड़कर कहीं बहुत पीछे या आगे जाकर जीने लगते हैं।”

“यही तो सारी आफतों की जड़ है। इसी से तो दुनिया के निन्यानवे फीसदी अनाचार, अन्याय और लूट-खसोट जुड़ी हुई है।”

“आप ऐसा कैसे कहते हैं?” मैंने चाय का एक घूट लेकर कहा—“यह जो मदबुद्धि लोग लाखों करोड़ों रुपये अनावश्यक रूप से तरह-तरह की विकृतियाँ पैदा करके इकट्ठा करके रखते हैं—उसका स्थूल कारण क्या यही नहीं है कि वह वर्तमान में न जीकर असुरक्षित भविष्य में जीते हैं और उसे सुरक्षित बनाने के लिए बिना जरूरत सिर्फ धन-संपदा जोड़ते चले जाते हैं? वह अपनी अगली पीढ़ियों को न केवल इस अकूत संपत्ति के बल पर काहिल और अपग बनाने हैं बल्कि देश पर व्यर्थता का बोझ भी बढ़ाते चले जाते हैं। सोचो जरा अगर एक आदमी के पास बगैर जरूरत इतना धन मृत अवस्था में न पड़ा रहे तो एक देश को कितने उद्योग धंधे और काम करने वाले कितने हाथ मिल जाएँ। यह वही हाथ हैं जो काम न मिलने पर चोरी डकैती हत्या बलात्कार में प्रवृत्त होते हैं। कल के धन की अकूत मात्रा जोड़ते चले जाने से बड़ा और सगीन अपराध दूसरा नहीं हो सकता।”

उर्मिला बोली—“पर यह व्यक्ति ही क्यों, क्या राष्ट्र नहीं कर रहे हैं? यह जो बड़े-बड़े उद्योग संपन्न विकसित देश हैं—गरीब राष्ट्रों के शोषण में इसी इच्छा के वशीभूत प्रवृत्त नहीं हैं? हम अपने कुटुम्बियों की सुरक्षा के लिए

व्यक्तिगत स्तर पर धन जमा करते हैं—यह अपने नागरिकों को सुरक्षित बनाने के लिए यही करते हैं। नाकारापन तो दोनों तरफ एक जैसा हो नहीं हुआ क्या?”

“तुम बिल्कुल सटीक बात कहती हो। यह व्यक्ति के स्तर पर अथवा राष्ट्र के स्तर पर है तो एक जैसा ही गढ़ित।”

अभी उर्मिला मेरी बात का कोई उत्तर देती कि बाहर का दरवाजा खुला और पंडित मुकुंद माधव दहलीज पार करके अंदर घुसते दिखाई पड़े।

उनके हाथों में मोतियों के फूलों की माला देखकर मैं एकदम चमत्कृत हो उठा। क्या रात उन्होंने मेरी बात सुन ली थी? मैंने उर्मिला से सुख गुलाबों की बात की थी। कंपनी बाग के रास्ते में जो फूलों की एक बड़ी दुकान थी उस पर अनेक तरह के फूल, मालाएं, गुलदस्ते, बुके इत्यादि मिलते थे। लगता था, पंडित मुकुंद माधव कंपनी बाग की दिशा में ही घूमने निकल गए थे और लौटते में उसी दुकान से यह माला खरीद लाए थे।

उन्होंने हम लोगों के नजदीक आकर माला मेरे हाथ में देते हुए कहा—“शुभ प्रभात!”

मैंने कहा—“बैठिए। पंडित जी, लगता है आज प्रातःभ्रमण के लिए रात रहते ही निकल पड़े थे।”

“नहीं रात तो नहीं थी—बस पौ फट रही थी।”

मैंने पूछा—“क्या आप नियम से सुबह घूमने जाते हैं?”

“नहीं वैसा नियम तो कोई नहीं है क्योंकि मैं तो निरंतर पैदल चलता ही रहता हूँ।” फिर वह हंसकर बोले—“जिस दिन अपने राष्ट्र कवि की कविता ज्यादा जोर मारती है उस दिन तो प्रातः भ्रमण के लिए निकल ही जाता हूँ।”

“राष्ट्रकवि? कौन-सी कविता की बात कर रहे हैं?”

“अरे वही। कौन-सा काव्य है? बड़ी प्रसिद्ध कविता है कि नहीं—

उठ उपवन में बड़े सवेरे—

तात भ्रमण करते थे तेरे....

“अच्छा-अच्छा।”

मैं उनकी बात पर बहुत हसा। जब हमी धमी तो मैंने कहा—“आप अनोखे व्यक्ति हैं साहब जो कर्म की प्रेरणा काव्य से लेते हैं।”

“सत्प्रेरणा हमेशा सद्ग्रंथों से ही मिलती है।”

“लोगों द्वारा किए हुए सत्कर्मों से क्या कोई बड़ी प्रेरणा संभव नहीं है?”

“वह भी होती है। यह तो अपने अपने संस्कार, स्वभाव और आंतरिक गठन पर निर्भर करता है। पर मेरा मानना है कि पुस्तक में वर्णित मार्मिकता हमारी मानसिकता को जिस प्रकार अनुप्राणित करती है वह व्यक्ति के कर्म द्वारा संभव नहीं है। कर्म से बहुत कुछ आंखों और जानकारी से ओझल भी होता है पर काव्य में पूर्वापर का विशद विवेचन आद्योपात्त हमारे भीतर उतरता चला जाता है। बड़े-बड़े उपदेशकों की बात का प्रभाव नहीं पड़ता पर कविता की एक पक्ति जीवनधारा बदल देती है।” फिर वह एक क्षण ठहरे—उन्होंने एक नजर उर्मिला को देखा और बोले—“मैं यह नहीं कहता व्यक्ति आदर्श नहीं होते। व्यक्तित्व का भी जादुई प्रभाव होता ही है। अब आप स्वयं को ही लीजिए। पता नहीं कितने पाठक-पाठिकाएँ आपके व्यक्तित्व से मोहाविष्ट होंगे।”

मैं ठठाकर हस पड़ा और बोला—“आखिर पतनाला यहाँ गिरा। पर यही सही मगर यह तो बतलाइए यह टटके फूलों का मोतिया हार किसके लिए लाए है? मेरे लिए तो आप गेदे के फूलों की माला ही लाते क्योंकि उसी से अभिनदन सत्कार वगैरह होता है। मोतियों का हार तो किसी उद्देश्य विशेष से ही लाया जाता है। आप तो संस्कृत वांगमय के अनघ पंडित हैं। जानते ही होंगे—प्रणयी याचक ऐसा हार प्रेयसी या प्राण प्रियतमा के लिए ही लाते हैं।” फिर मैंने माला की ओर सकेत करके कहा—“इसे सही पते पर प्रेषित करने की कृपा भी तो करें।”

मेरे इशारे पर पंडित मुकुंद माधव झेपकर बोले—“मैंने तो इसे आपको अर्पित कर दिया। अब आप जिसे चाहे प्रेषित कर दें।”

मैंने वह माला उर्मिला की ओर बढ़ाते हुए कहा—“गिफ्ट टू द कन्सर्ड पर्सन वाया मी।”

उर्मिला ने उसे एक ओर सरकाते उसे मेज के दूसरे छोर तक पहुँचा दिया और बोली—“यह माला आपको भी विरसी भाषा बोलने पर मजबूर कर गई तो स्पष्ट ही मेरे लिए नहीं है। विलासी ऐसे गजरे लेकर कहाँ जाते हैं यह आपसे छिपा नहीं है। उपन्यासों-कहानियों में इसकी कुछ कम भरमार नहीं है।”

उर्मिला के शब्दों के पीछे जितनी प्रताणना और अपमान छिपा हुआ था उसने पंडित मुकुंद माधव के चेहरे पर जैसे कालौस ही पोत दी।

उन्होंने फिर एक शब्द नहीं कहा और वह दूसरे कमरे की ओर बढ़ गए।

उनके जाने के बाद कई मिनट तक वातावरण में मनहूस चुप्पी छाई रही।

मुझे उर्मिला के शब्द चाबुक जैसे मारक लगे। मैं सोच भी नहीं सकता था कि वह मोतियों के फूलों की एक माला लाने पर अपने पति को इस तरह कौंच कर अपमानित कर देगी। निश्चय ही उसके मन में अपने पति के प्रति विद्रोह उस सीमा तक बढ़ गया था कि उसके शमन का कोई आसान उपाय संभव ही नहीं रह गया था। दोनों के लिए आमने-सामने बैठकर बातें करने की सभी संभावनाएँ नष्ट हो चुकी थीं। यह कहीं विदेश की वैवाहिक विडवना होती तो अब तक कब का तलाक हो चुका होता पर हम भारतीयों की सामाजिक जकडबदी और रूढ़िगत परंपराओं के चलते संबंध विच्छेद भी आसान नहीं था। दोनों को अनिच्छा पूर्वक एक दूसरे को ढोते चले जाने की विवशता किसी भयानक अभिशाप से कम नहीं थी।

पंडित मुकुंद माधव उर्मिला की कटाक्षभरी उक्तियों और अपमान को पीकर जिस तरह चुपचाप चले गए थे वह मेरे लिए कम आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि अब तक, उर्मिला के किसी व्यंग्य बाण से आहत होने के बाद मैंने उन्हें चुप्पी साधते या चुप मारकर चले जाते नहीं देखा था।

मैंने उर्मिला को उस कलह और कटुता भरे प्रसंग से हटाने की मंशा से दूसरी बातों में लगा दिया और हम दोनों सहजता से और बहुत-सी बातें करते रहे। उन बातों में मैंने प्रयासपूर्वक घर-परिवार की बातें नहीं आने दीं।

काफी देर बाद उर्मिला उठकर जाते हुए बोली—“मैं आपके लिए चाय बनाकर लाती हूँ।”

मैं बोला—“मेरे लिए ही क्यों?”

“मैं तो दो प्याले चाय पीकर बहुत संतुष्ट हूँ और अब नहाने-धोने के बाद ही कुछ ले सकती हूँ।”

“मैं भी दो प्याले चाय पी चुका हूँ और यह दो घंटे के लिए काफी हैं। पहले आप नहा-धोकर निपटे उसके बाद ही कुछ देखेंगे।” फिर कुछ क्षण ठहरकर बोला—“जोखन महाराज के न होने से आज नाश्ते और खाने का मीनू हमें बदलना पड़ेगा। आप स्नान ध्यान से निवृत्त हो लें फिर हम नाश्ता करने चलेंगे। अगर दोसा और काफी से काम चल सके तो—काफी हाउस भी चल सकते हैं।”

वह बोली—“मेरे लिए तो वह आदर्श उपहार होगा मगर....।”

उसके मगर कहते ही मुझे उसके पति महोदय का खयाल आ गया और मैं बोला—“वह तो बाजार का कुछ भी खाएंगे नहीं इसलिए घर में ही कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी।”

वह लापरवाही से बोली—“मैं और आप काफी हाउस चले चलेगे. .उनके लिए पूरी पराठा और आलू की भाजी यही घर से बना दूंगी।”

“बस यही ठीक रहेगा।” कहकर मैंने सुबह के अखबारों पर आखे केंद्रित कर ली।

उर्मिला नहाने के लिए चली गई मगर कुछ ही क्षण बाद गुलाब के फूलों की डोलची लेकर वापस आ गई। हंसते हुए बोली—“आपने ये इतने बड़े-बड़े सुख गुलाब किसके लिए सजोकर रखे हुए हैं?”

“किसके लिए बतलाऊं? अब तो कहते हुए डर ही लगता है।”

“डर? कैसे और किसका डर?”

मैं क्षण भर चुप रहकर बोला—“अलक्षित का ही समझो।

“अलक्षित? क्या इस घर में कोई अलक्षित भी रहता है जिससे आप मेरा परिचय नहीं कराना चाहते?”

“अलक्षित घर में कोई नहीं है वह तो मन की दुनिया में ही रहता है पर उस पर मेरी किसी प्रकार की दावेदारी नहीं बनती।”

उर्मिला संभवतः मेरा अभिप्राय समझ गई और उसे रात की बात का स्मरण हो आया, जब मैंने परिहास में लॉन में उगे गुलाबों की बात की थी। मेरे लॉन में इन दिनों कितनी ही ‘वैरायटी’ के गुलाब खिले हैं। सुबह किसी को देकर देखना कि देते समय क्या अनुभूति होती है और यह देना कैसा लगता है।”

वह गंभीर हो गई और बोली—“आपकी दावेदारी को मैं कोई चुनौती नहीं दे सकती पर काश आपका यह अमूल्य उपहार कहीं प्रेषित हो पाता।”

मैंने क्षण भर चुप रहकर कहा—“वह शब्द चाहे किसी ने भी कहे हों पर मैं उन्हें सुनने के बाद इन फूलों को दे सकने का साहस नहीं जुटा पाया। अब शायद कैसा भी नहीं लगेगा। होता होगा कोई समय जब इन बातों का कोई मतलब होता होगा।”

यह शब्द स्वयं उर्मिला के कहे हुए थे इसीलिए शायद वह उन्हें भुला नहीं पाई थी। कुछ न कहकर वह एक लंबी सांस खींचकर चली गई।

जब वह नहाने के बाद किचन में चली गई तो मैं भी नहाने-धोने में लग गया।

नहाने के बाद मैं कमरे में कपड़े बदल रहा था तो मुझे एकाएक इस बात का ध्यान आया कि मैंने काफी देर से पंडित मुकुंद माधव को नहीं देखा। यह तो स्पष्ट ही था कि वह ब्राह्म मुहूर्त में नहा-धोकर घूमने निकले थे। अब सुबह के साढ़े नौ बज रहे थे, उन्हें भूख भी लग रही होगी।

मैं उन्हें देखने के लिए अतिथि कक्ष में गया पर वह वहां नहीं थे।

मैंने सोचा वह कोई पुस्तक या समाचार-पत्र लेकर लॉन में पेड के नीचे बैठे होंगे। पर वह लॉन में भी नहीं थे। उसके बाद तो मैंने सारा घर छान मारा पर उनका कहीं पता नहीं चला।

मैंने रसोई में पूरियां तलती उर्मिला से पूछा—“क्या पंडित जी कहीं बाहर गए हैं? घर में दिखाई नहीं पड़ रहे हैं।”

वह बोली—“होगे यहीं कहीं। वह घर से बाहर जाएंगे भी कहा?”

“हां, यही तो मैं सोचता हूं। शहर में भी वह किसी को नहीं जानते। पान वगैरह का भी उन्हें कोई शौक नहीं है। हाट बाजार जाने में भी मैं उनकी कोई खास रुचि नहीं देखता।”

उर्मिला सहजता से बोली—“हो सकता है घर में बैठे-बैठे ऊब गए हो और इधर-उधर चहलकदमी करने निकल गए हो।” फिर वह पिछले दिन का स्मरण करके बोली—“दिल्ली में ही वह किसी को कब जानते थे? हम लोगो को छोड़कर गए तो फिर भटक-भटकाकर अपने आप ही घर नहीं लौट आए थे?”

“हां, यह तो तुम ठीक कहती हो।” उर्मिला ने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा और बोली—“चलिए उनके कहीं चले जाने से इतना तो हुआ।”

“इतना क्या हुआ? मैंने चकित होकर पूछा—“यही कि आपके मुह से मेरे लिए आप संबोधन के अलावा दूसरा कोई शब्द निकल ही नहीं रहा था। अब आपने ‘तुम’ तो कहना शुरू किया।”

मैंने भी हसते हुए कहा—“असावधानी में बोले हुए शब्द और संबोधन क्षम्य हैं।”

“पर मैं माफ करने नहीं जा रही हूं। सजा के तौर पर अब आपको हमेशा यही ‘तुम’ बोलना पड़ेगा।”

उर्मिला ने नमकीन पूरियां तली थीं। अलमारी में जोखन ने कई तरह के अचार और मुर्ब्बे बोटलों में सजाकर रखे हुए थे वह संभवतः उर्मिला ने देख लिये थे। वह पूरिया एक थाली में रखते हुए बोली—“आप तो गरम-गरम ही खा लें। वह जब लौटेंगे तो मैं उनके लिए फिर से तल दूंगी।”

“मुझे इतना गरम खाने का शौक हुआ होता तो अब तक बहुत कुछ हो चुका होता।”

“वह बहुत कुछ तो अब भी हो सकता है। पर उस पर बाद में भी विचार हो

सकता है। यह गरम पूरियां तो प्रस्तुत क्षण में ही मिल रही है—इसे आप अतीत बनाने पर क्यों तुले हुए है।”

मैंने अलमारी से आम के अचार और मुरब्बे की बोतले उठाते हुए कहा—“आप अपने द्वारा तैयार चमत्कार को उधर डाइनिंग टेबिल पर ले आइए और बाकी का काम थोड़ी देर के लिए स्थगित कर दीजिए।”

उर्मिला संकोच दिखाते हुए कहने लगी—“मैं एक बार आपको अकले ही खाते हुए देखना चाहती हूं। वह मेरा आंतरिक सुख होगा। क्या मेरे लिए आप इतना भी नहीं कर सकते?”

“उर्मिला, बहुत दकियानूसी बात है यह मगर वह मैं तुम्हारा आदेश टालने का साहस भी नहीं कर सकता।”

मेरे शब्दों से उसके चेहरे पर एक उज्ज्वल मुस्कान थिरक उठी। उसमें सलज्जता की भी दीप्ति थी।

उर्मिला ने खाने की मेज पर कई सघःतली हुई फूली-फूली पूरिया प्लेट में न रखकर थाली में ही रखी और बोतलों से अचार मुरब्बे निकालकर एक प्लेट में रखन लगी।

जब मैंने खाने के लिए पूरी का टुकड़ा तोड़ा तो मैंने देखा, वह एक कुर्सी की पीठ पकड़े स्नेह भरी आखों से मेरी ओर निहार रही थी।

जीवन से बहुत दूर जा चुका यह विरल दृश्य न जाने कितने वर्षों के अंतराल पर पुनर्घटित हुआ था, इसकी ठीक-ठीक याद मुझे नहीं थी।

वह मुझे खाता छोड़कर रसोई की दिशा में लौटी और पूरिया तलने लगी।

भर पेट खाने के बाद मैंने पेट पर हाथ घुमाते हुए कहा—“काश अपना यही अंतिम भोजन होता।”

उर्मिला ने जीभ काटकर कहा—“हे, हैं यह आप क्या दुर्वचन मुह से निकाल रहे हैं? क्या कभी ऐसे भी बोला जाता है?”

“जीवन का परम आस्वाद मैं डूबा क्षण इसी सोच से जुड़ा होता है। क्यों? क्योंकि उसकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है। निमिष में सिमटी उज्ज्वलता, पवित्रता, प्रेम और परिभ्रमण कभी दुहराए नहीं जाते।”

उर्मिला की दृष्टि में एक मोहाविष्ट भूख जाग उठा और वह अपलक मेरी ओर देखती रही। उसकी आखें अवश्य मेरे मुख पर लगी थीं पर उनका केंद्र मैं नहीं था। पता नहीं कितने जन्मों के आर-पार पारदर्शिता को लक्ष्य करने वाली थीं वह आंखें।

मैं उसकी ओर से आंखें हटाकर कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। मुझे उठते देखकर मानो उसकी अतीव्रियता में डूबी चेतना एकाएक खंडित हो गई। उसने आगे बढ़कर सहसा मेरे दोनों पांव अपने हाथों में ले लिये।

मैं सन्नाटे में आ गया। उसे वलात् दोनों कंधों से पकड़कर उठाते हुए बोला—“यह क्या किया तुमने उर्मिला? अपने आपको विखरने से बचाने का क्या कोई भी उपाय मेरे हाथ में नहीं रहने दोगी?”

“अब आप विखर नहीं सकते। आपके भीतर का अनुशासन ऐसा कभी नहीं होने देगा—यह मैं भली प्रकार जानती हूँ।”

मैं उन्मत्त की तरह लड़खड़ाते हुए वाश बेसिन पर जाकर खड़ा हो गया। मेरे मानसिक नेत्रों से उर्मिला का मेरे पावों की ओर झुकना ओझल नहीं हो पा रहा था।

दोपहर तक तो मेरा और उर्मिला का यही खयाल था कि पंडित मुकुंद माधव कहीं इधर-उधर ही घूमने-फिरने गए होंगे और जब उनका मन भर जाएगा तो भटक-भटकाकर स्वयं ही लौट आएंगे पर जब वह शाम तक भी नहीं लौटे तो मुझे एकाएक उनके सामान का खयाल आया। मैंने उर्मिला से कहा—“अब तक पंडित जी के लौटने की प्रतीक्षा में हमने यह भी नहीं सोचा कि कहीं वह यहां से चले ही ना गए हों।”

“यह कैसे हो सकता है?” उर्मिला गहरे अविश्वास से बोली।

“कमरे में जाकर उनका सामान तो देखे—उनकी अटैची झोला और खूटी पर कुछ कपड़े वगैरह हैं या नहीं।”

उर्मिला के ध्यान में भी अब तक यह बात नहीं आई थी। वह कुछ बदहवास-सी होकर बोली—“वह ऐसा तो नहीं कर सकते।”

मैंने कहा—“करना तो नहीं चाहिए पर अगर ऐसा हो ही चुका हो तो हमें जानना तो चाहिए।”

उर्मिला उस कमरे में गई जहां उनका सामान रखा था। कुछ क्षणों बाद लौटकर वह रुआंसे स्वर में बोली—“आपने ठीक ही सोचा—वह चले गए हैं।” उसका चेहरा तमतमा उठा था। वह बहुत अपमानित अनुभव कर रही थी। गहरे विषाद से बोली—“वह ऐसा भी कर सकते हैं, मैंने यह नहीं सोचा था।”

मैं गहरी चिंता में पड़ गया। मुझे और उर्मिला में से किसी एक को भी उनके जाने की भनक नहीं मिली। जोखन महाराज होते तो शायद पंडित जी इस तरह मय सामान के चुपचाप खिसक न पाते। हो सकता था जोखन के रहते यह नौबत ही न आती। कई दफा घटनाएँ स्थितियों के कुछ और होने से टल जाती हैं।

अब क्या हो—यही मेरी समझ में नहीं आ रहा था। उर्मिला के चेहरे पर पति के यों चुपचाप चले जाने के दुःख से भी बड़ा त्रास इस तरह अवमानना करके चले जाने को लेकर था। उन्हे जाते समय एक बार भी यह खयाल नहीं आया कि जब वह अपने शहर में बिना उर्मिला के यों अकेले पहुँचेंगे तो लोग क्या समझेंगे। किसी न उर्मिला के विषय में पूछा तो उसे वह क्या उत्तर देंगे।

उर्मिला की घबराहट और रुआंसेपन को लक्ष्य करके मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा था। मैंने जीवन में ऐसी कोई परिस्थिति कभी जानी-देखी नहीं थी और न ही उपन्यास कहानियों में किसी ऐसी विषम स्थिति से पाना पडा था।

मैंने उर्मिला के कंधे पर हथेली टिकाकर उसे दिलासा दी—“पंडित जी ने असह गुस्ते की लहर में यह निर्णय लेकर जो गलती की है उसकी तुम किसी प्रकार भी दोषी नहीं हो। यह उनका एक पक्षीय निर्णय था और इसके लिए अब उन्हें पछतावा भी कम नहीं हो रहा होगा। मगर इसे लेकर तुम दुखी और परेशान हो, यह उचित नहीं है।”

“मैं दुखी और परेशान न होऊँ तो आप ही बताइए क्या करूँ?”

“कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। यह घर तुम्हारा ही है। अभी तुम्हारा विद्यालय भी बंद है। आराम से रहकर अगली स्थितियों की राह देखो।”

“मैं तो राह देख लूँगी मगर वहाँ जाकर वह मेरे विरुद्ध क्या-क्या अभियोग नहीं लगाएंगे?”

“अव्वल तो वह तुम्हारे विरुद्ध कोई अभियोग लगाएंगे ही नहीं। अगर उन्होंने ऐसी कोई भूल कर दी तो उनकी ही मिट्टी खराब होगी। सभी उनकी रीति-नीति और स्वभाव से परिचित हैं। मैं नहीं समझता, उनके कृत्य के प्रति किसी को कोई सहानुभूति होगी।”

“उन्हें क्या लगता है? वह तो मेरा परित्याग भी कर सकते हैं। पुरुषों को ऐसा करने में कितनी देर लगती है? क्या रोज ही ऐसी सैकड़ों घटनाएँ समाचार-पत्रों में नहीं छपती?”

“जरूर छपती है। मैं कब इनकार करता हूँ, मगर वह सब उर्मिलाएं नहीं होतीं। पिछले दो दिनों में मेरा जिस उर्मिला से परिचय हुआ है यदि वह उसी रूप में खड़ी हो जाती है तो फिर उसे अकारण कोई दंडित नहीं कर सकता।”

“आप हमारे निर्दयी समाज को तो जानते हैं—इसमें साग दोष और कलंक स्त्री का ही होता है। औरत अकेली कहीं एक रात रह जाए तो उस पर इतना मैलापन तोप दिया जाता है कि कोई उसके निष्कलंक होने की प्रतीति नहीं कर सकता।”

“म मानता हूँ यह स्थिति ता है पर स्त्री के हमेशा गिढ़ विहीन बने रहकर सारे अन्याय सहते चले जाने से ही यह होता रहा है। यदि एक बार वह सिर उठाकर खड़ी हो जाए तो बहुत कुछ बदल सकता है। अब तुम अपने को ही लो। अच्छी पढ़ी-लिखी विदुषी और आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो। पति पग-पग पर प्रताड़ित करते हैं—परस्पर कोई सौमनस्य वाला संबंध भी नहीं है—फिर भी तुम उनके लिए चिंता में मरी जा रही हो। सोचो, ऐसा क्यों है?”

उर्मिला बोली—“मैंने इस दिशा में कभी सोचा नहीं।”

“मैं बतलाता हूँ कि तुमने क्यों नहीं सोचा।

अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी

आंचल में है दूध और आखों में पानी।

यही तुम्हें हर किसी ने बतलाया है और तुमने भी इसे यथास्थिति के रूप में स्वीकार कर लिया है। तुम कल दिन और रात वाली उर्मिला बन जाओ तो फिर तुम्हें न कोई परास्त कर सकता है—न हताश कर सकता है। हमने पश्चिम से बहुत-सी बेकार की चीजें तो ग्रहण कर ली हैं मगर वहाँ के स्त्री स्वातंत्र्य पर कभी दृष्टि नहीं डाली। क्या वहाँ कोई पति अपनी पत्नी को इस तरह निराधार छोड़कर जा सकता है? यदि वह एक बार चला भी जाए तो वह स्त्री न उसको कभी क्षमा कर सकती है और न वह उसको अपने जीवन में लौटा सकता है।

“पर यहाँ तो ऐसा नहीं हो सकता। उर्मिला उद्विग्न होकर बोली।

“हो क्यों नहीं सकता? इसमें कठिनाई ही क्या है। बस वही मानसिक बाधा है जिसे हमने बिना प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया है। उदाहरण भी कैसे है—राम लोकापवाद के डर से सीता को त्याग देते हैं और कहीं कोई पता नहीं हिलता। देवताओं की ओर भी आँखें न उठाकर दमयंती पति के रूप में नल का वरण करती है और नल एक रात उसे बीहड़ वन में निराधार-निराश्रित छोड़कर चल देता है—इस पर भी कहीं कोई सुगबुगाहट नहीं होती। स्त्री भी इस अन्याय के विरुद्ध कोई चू-चपड़ नहीं करती। इसे अपना भाग्य मानकर स्वीकार कर लेती है। इसके अलावा और भी तमाम उदाहरण इसी तरह के भरे पड़े हैं। स्पष्ट ही है, जब बचपन से ही स्त्री के मन को इस साँचे में बिठाया जाता है और उसके लिए आत्मावलोकन, आत्मचिंतन वेदादि ग्रंथों का पारायण निषिद्ध ही है तो वह स्वयं को एक निर्वल लता के अलावा और क्या समझेगी जिसे किसी पेड़ का सहारा चाहिए ही चाहिए।

पर यहा तो उसकी नियात ह बेल होने का स्थिति म क्या इसक अतिरिक्त उसका भाग्य और कुछ हो सकता है?”

मैं उसकी बात सुनकर हस पड़ा और बोला—“अव्वल तो पेड पर चढी बेलें सृजन धर्मा कम ही होती हैं और होती भी है तो खरबूज, तरबूज और काशीफल की जमीन पर ही विकसित होने वाली बेलों के मुकाबिले बहुत पोच होती है। शायद तुम विश्वास न करोगे, मैंने पच्चीस-तीस सेर वजन के तरबूज और काशीफल जिसे कट्टू भी कहा जाता है आमतौर पर देखे हैं। ऐसा सिर्फ इसलिए संभव होता है कि यह बेलें हवा में नहीं ठोस पृथ्वी पर फैलकर ही फलवती होती है।”

मेरी बात सुनकर उर्मिला के विषण्ण, उदास चेहरे पर हल्का-सा परिवर्तन हुआ और वह कुछ क्षण चुप रहकर सोचती रही। फिर लवी सास लेकर उसने पूछा—“अब आप मुझे क्या करने को कहते हैं?”

“मौज करो—इसके अतिरिक्त कहने को और है ही क्या!”

फिर कुछ देर ठहर कर मैंने कहा—“एक दो रोज के लिए हम लोग कहीं घूमने फिरने के लिए भी निकल सकते हैं। मेरे कई मित्र पहाड़ों पर हैं—पौढी और चमोली में भी कुछ अच्छे परिचित रहते हैं, वहां भी जाया जा सकता है।”

“अब मेरी अक्ल तो कुछ काम करती नहीं है। आप जैसा ठीक समझते हो वही करे।”

“वैसे तो मैं तुम्हारे साथ आज और अभी भी यहा से कहीं के लिए भी प्रस्थान कर सकता हूँ पर एक तो जोखन के आ जाने की राह देखना जरूरी लगता है। चलो जोखन को भी छोड़ा जा सकता है। इस तरह एकाएक मुझे कभी कभी बाहर जाना पड जाता है तो मैं पान वाले को घर की चाभिया देकर चला जाता हूँ पर मैं एक-दो दिन पडित मुकुंद माधव की भी प्रतीक्षा कर लेना श्रेयस्कर ही मानता हूँ।”

उर्मिला चकित भाव से मेरा मुह देखने लगी। उसे रंचमात्र भी यह आशा नहीं थी कि उसे इस तरह औचक छोड़कर चले जाने वाले पति महोदय अब कभी लौटकर भी आ सकते हैं।

उसने गहरे अविश्वास से कहा—“यह मात्र एक दुराशा है। अब उनके यहा लौटकर आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।”

“जब रात बहुत काली और निस्तब्ध होती है तो कभी सूर्योदय होगा। इसकी आशा भी दुराशा ही लगने लगती है। मगर हम सभी जानते हैं—प्रभात का आगमन रुक नहीं सकता सूर्योदय टल नहीं सकता।”

“जो भी हो, मुझे ऐसा नहीं लगता कि वह कभी लौटेंगे।”

“पर मुझे कहीं बहुत गहरा विश्वास है कि पंडित जी अवश्य आएंगे।”

“क्या आप त्रिकालदर्शी हैं, जो ऐसी भविष्यवाणी कर रहे हैं?”

“इसमें तत्त्वज्ञ होने अथवा भविष्य द्रष्टा होने का कोई प्रश्न नहीं है। जहां तक मे मानव स्वभाव से परिचित हूँ मुझे यही लगता है कि उन्हें लौटना चाहिए।”

“मैं भी मानव स्वभाव की थोड़ी-सी जानकारी रखती हूँ। वह बहुत हठी और एकपक्षीय सोच वाले आदमी हैं। उन्हें जो चग एक बार चढ़ जाती है, वह उनके सिर से उतरती नहीं है।”

मैंने कथे उचकाकर कहा—“भई अब वह तुम्हारे पति हैं, मैं उनके संबंध में और क्या कह सकता हूँ।”

अब शाम होने लगी थी। मैं बोला—“अगर फिल्म देखने का मन हो तो यहाँ एक अच्छी फिल्म लगी है। वैसे तो मैं फिल्म देखने से कतराता हूँ मगर जब लोग किसी फिल्म की प्रशंसा करते हैं और समाचार-पत्रों में भी उसकी अच्छी रिपोर्ट छपती है तो देखने चला जाता हूँ।”

“मेरा मूड तो एकदम उखड़ा हुआ है। अजब, उच्चाटन जैसी स्थिति है। अब आपका जैसा मन हो वैसा ही कीजिए।”

“तो फिर झटपट नहा डालो। सारे दिन लू चलती रही है। नहाने से थोड़ी राहत मिल जाएगी। शायद अच्छी ही फिल्म हो। इसमें तो कोई बड़ा जोखिम भी नहीं है। अगर नहीं जमी तो बीच में उठकर भी आ सकते हैं।

नहाने जाने से पहले उर्मिला ने पूछा—“क्या आपके लिए चाय या काफी कुछ बना दूँ?”

“कतई नहीं।” मैंने मेज पर रखी घड़ी पर नजर डालकर कहा।

उर्मिला नहाने चली गई तो मैं सोचने लगा कि मुकुंद माधव न लौटे तो आगे की स्थिति क्या होगी! क्या उर्मिला उनके बिना सहज रह पाएगी? अपनी ओर से मे आश्वस्त था कि उसे मेरे पास रहने में कोई कष्ट होने वाला नहीं था लेकिन लौकिक दृष्टि से क्या यह एक निभने वाली स्थिति हो सकेगी? जोखन महाराज मेरे पास बहुत लंबे समय से थे और शब्दों के अधिक आदान-प्रदान के बिना भी हम दोनों एक दूसरे के परस्पर थे। उर्मिला किस परिस्थिति में यहाँ रह रही है, यह तो जोखन को बतलाना ही पड़ेगा। उस स्थिति में जोखन का उर्मिला के साथ क्या व्यवहार होगा? एक अविवाहित पुरुष के साथ एक ही घर में किसी दूसरे की विवाहिता स्त्री सहज भाव से रहना स्वीकार करेगी। मेरे अपने सामाजिक दायरे में इस संबंध की क्या व्याख्या की जाएगी।

इसी क्रम में मैं अभी और भी बहुत से विषम प्रश्नों से घिरने जा रहा था कि उर्मिला नहाकर लौट आई और बोली—“आप भी जल्दी से नहा डालिए।” दीवार घड़ी पर नजर डालकर मुझे याद दिलाया—“बस छह बजने ही जा रहे हैं।”

जब मैं और उर्मिला सिनेमा हाल पर पहुंचे तो शो छूट चुका था और सूचना विभाग की खबरो वाली रीले चल रही थी। जल्दी से टिकट लेकर हम दोनों बाक्स में जाकर बैठ गए।

फिल्म शुरू हुई तो हाल में चारों तरफ गहरी शांति छा गई। अमिताभ बच्चन की शुरू की फिल्मों में से एक थी। इस ‘आनंद’ फिल्म में राजेश खन्ना कैसर का मरीज होता है और अमिताभ बच्चन एक संवेदनशील डॉक्टर। कैसर पीड़ित व्यक्ति में जीवन के प्रति गहरी ललक है किंतु उसे मरने का भी कोई भय नहीं है। जितनी देर भी जीना है उसे वह सार्थक ढंग से ही जीना चाहता है। डॉक्टर उसे बचाने के लिए प्राणपण से प्रयासरत है। वह भी जीवित रहते मृत्यु की पीड़ा का किसी को सकेत नहीं देता और अतत हंसते-खेलते दुनिया से चला जाता है।

फिल्म खत्म होने पर मन में गहरी करुणा और पीड़ा की भावना लेकर हम लोग हाल से बाहर निकले। उर्मिला तो फिल्म में कई अवसरों पर अवशभाव से रो भी उठी। जिसे उसने बहुत छिपाने की भी चेष्टा की थी। पर वह ऐसे विषम क्षण थे कि विगलित हो उठना अनपेक्षित नहीं था।

जब हम दोनों ‘चित्रालय’ के परिसर से बाहर निकल आए तो उर्मिला ने एक लंबी सांस खींचकर कहा—“इस फिल्म के सारे ही पात्रों में कितनी गहरी मानवीय संवेदना थी। मैंने अपने जीवन में अब तक ऐसी कोई फिल्म नहीं देखी थी जिसमें एक भी पात्र विसंवादी और दुष्ट न हो। यह पहली फिल्म है जिसके सभी पात्र मन की गहरी भावनाओं से इस कदर जुड़े हो।”

रिक्शे के इंतजार में एक स्थान पर खड़े होकर मैंने कहा—“वह तो है ही मगर सबसे बड़ी बात यह है कि इस चित्र में जीवन के प्रति गहरी आसक्ति और आस्था के दर्शन होते हैं। कैसर का रोगी अपने बचे-खुचे जीवन को संपूर्णता से जी लेने में विश्वास रखता है। वह एक दीन हीन रुग्ण और दूसरों की दया पर जीने वाली जिंदगी की कामना नहीं करता। वास्तव में हमारे फिल्म निर्माता ऐसी सार्थक फिल्म बड़ी मुश्किल से ही बना पाते हैं।”

मैंने निकट से गुजरते रिक्शे वाले को हाथ उठाकर रोका और उर्मिला से रिक्शे पर बैठने को कहा। उर्मिला की बगल में बैठ जाने के बाद मैंने रिक्शा चालक को गंतव्य का पता बतला दिया और उर्मिला से पूछा—“घर पर जाकर

अब खाने-पीने का झंझट करना तो बवाल सरीखा ही है। क्यों न कहीं होटल में कुछ खाते पीते चलें।”

उर्मिला ने खाने के प्रति अरुचि प्रकट करते हुए कहा—“दोपहर का खाना ही अब तक हज्म नहीं हुआ है। नहाने के बाद थोड़ी-सी शांति मिली थी पर सिनेमा हाल की उमस में फिर वही हाल हो गया। लगता है मुझे तो घर जाकर एक बार फिर से नहाना पड़ेगा।”

मैंने घर पहुंचने से पहले ही रिक्शा रुकवाया और पड़ोस के दुकानदार से डबल रोटी मक्खन और दो किलो पानी का बर्फ लिया।

जब हम घर में दाखिल हो रहे थे तो उर्मिला ने पूछा—“फ्रिज के बर्फ से ही काम चल जाता—आपने यह बर्फ किसलिए खरीदा है?”

“तुम नहाने के लिए नहीं कह रही थी। टप का पानी तो उबलता हुआ ही होगा—उसमें बर्फ डाल देने से कुछ तो ठंडा हो ही जाएगा।”

उर्मिला पछतावे के स्वर में बोली—“पता नहीं मेरी वजह से आपको अभी कितनी मुसीबतें और उठानी पड़ेगी।”

“खुदा करे ऐसी मुसीबतों से कभी मुक्ति ही न मिले।”

“खुदा को इसमें क्या करना है। ऐसा करने के लिए तो मैं ही बहुत हूँ।”

मैं देख रहा था कि पंडित मुकुंद माधव के बिना बताए चले जाने से उर्मिला निरंतर उद्विग्न होती जा रही थी। दो दिन में ही उसका चेहरा म्लान हो उठा था। उनकी उपस्थिति में वह मुझसे जिस तरह निर्द्वंद्व भाव से खुली बातचीत करती थी तथा अपने पति के प्रति सतत उपेक्षा का भाव दर्शाती थी—वह अब दिखलाई नहीं पड़ता था। यद्यपि वह उनके विषय में अब भी कुछ विशेष चर्चा नहीं करती थी पर वह उनकी अनुपस्थिति को लगातार गहराई तक महसूस करने लगी थी। मेरा यह आश्वासन भी उसे कोई विशेष राहत नहीं दे पा रहा था कि उसकी जब तक इच्छा है वह मेरे साथ पूर्ण स्वतंत्रता से रह सकती है।

मैं विविध प्रसंगों से उसका मन बहलाने का प्रयास करता रहता था। पहले वह खुलकर बहुत से प्रसंगों पर लंबा वार्तालाप करती थी तथा उसकी मेधा का स्वरूप भी उजागर हो उठता था किंतु पिछले दो दिनों से वह कोई भी ऐसी बात नहीं कर पा रही थी जिससे उसके मन के ठहराव का पता लगे।

दो दिनों तक वह रसोई में भी व्यस्त हो जाती थी पर जोखन के आ जाने से रसोई में जाने का काम भी समाप्त हो चुका था।

जोखन ने पंडित मुकुंद माधव को घर में न देखकर उससे ही पूछा था। “क्या पंडित जी वापस लौट गए?”

मैंने इधर-उधर करते हुए जोखन को बतला दिया था कि वह काम से कुछ दिनों के लिए चले गए हैं—जल्दी ही लौट आएंगे।

कुछ और दिन विचित्र उच्चाटन की मन-स्थिति में निकल गए। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया कि उर्मिला और उसके पति महोदय के बीच पारस्परिकता का वैसा प्रभाव नहीं था जो दोनों को हमेशा के लिए सहजता से अलग कर दे। दरअसल उनके

बीच सहज सवाद की स्थिति नहीं बनती थी और उसकी अनुपस्थिति भीतर के सारे आवेगों को कुंठित करने के लिए पर्याप्त थी।

नवे समय तक जब हम किसी के प्रति एक खास तरह का रवेया अख्तियार कर लेते हैं तो उसे बदलने में एक विचित्र किस्म की झिझक होने लगती है। बीमार व्यक्ति के प्रति यदि हमारा दृष्टिकोण उसके उपचार और परिचर्या का होता है तो हमारी सलग्नता में कोमलता, चिंता और स्नेह की कमी नहीं होती पर यदि हम उसकी बीमारी को मामूली ढंग से 'रूटीन' में शुमार कर लेते हैं तो हमारे मन में एक तरह की उपेक्षा और लापरवाही का भाव ही घर कर जाता है और हम उसे बीमार देखने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

यहां भी उर्मिला और उसके पति अपने व्यवहार को बदलने के प्रति निश्चेष्ट थे। हो सकता है वह कभी इस स्थिति को बदलना भी चाहते हों पर ऐन वक्त पर अपनी तत्परता खो बैठते हों। दाम्पत्य संबंधों में कोमलता का बाहरी यथार्थ भी अपरिहार्य है। उसके प्रदर्शन की आवश्यकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके चलते हमारा भीतरी काठिन्य कुछ तो गलत ही है। लड़ना-झगडना और कलह आदि भी दाम्पत्य जीवन के यथार्थपरक प्रसंग हैं पर यदि वही जीवन की मुख्यधारा बन जाएं तो फिर जीवित रहने का लालित्य ही सूख जाता है।

मैंने उर्मिला की बेचैनी को दूर करने की कोशिश नहीं की। मैं उसका मनोवैज्ञानिक उपचार करने के लिए यह आवश्यक समझता था कि वह गहरे मनोमथन में डूबकर अपना आत्मावलोकन करे और जीवन के प्रति उसके पति का रवेया बदले। जिस उम्र में वह लोग कलह कोलाहल में जी रहे थे वहां एक-दूसरे के मन की भीतरी रागात्मकता का स्पर्श प्रायः असंभव ही था। हमारे समाज में पति-पत्नी आपस में एक दूसरे को किसी भी तरह सहते चले जाना एक साधना मानते हैं। वह कड़वे धूँट की तरह ही एक दूसरे को ग्रहण करते हैं और कालान्तर में इसी ढव को सहज जीवन व्यापार की तरह स्वीकार भी कर लेते हैं। एक दूसरे से विलग हुए बिना उन्हें अनुपस्थित साथी के मूल्य और आवश्यकता की प्रतीति ही नहीं हो पाती। यही कारण है कि भारतीय परिवारों में पहले एक स्वस्थ परंपरा थी। पति-पत्नी को अपरिहार्य रूप से वर्ष भर में कुछ समय के लिए एक-दूसरे से अलग रहने की सहज व्यवस्था हुआ करती थी। थोड़े दिन अलग रहकर उनकी पारस्परिकता के लिए भूख सहज ही प्रबल हो उठती थी। दैहिक और मानसिक क्षुधा की पूर्ति के लिए वह आपस में ललककर मिलते थे। पर जब से संयुक्त परिवार टूटे यह पारस्परिकता का सकट पति-पत्नी के बीच बढ़ता ही चला जा रहा है।

हो सकता है उर्मिला और उसके पति के साथ परिवार के कुछ और भी सदस्य रहते होते—एक दो बच्चे भी होते तो उन दोनों को आपसी व्यवहार में एक सार्थक सतुलन रखने की बाध्यता होती। दोनों आर्थिक स्तर पर स्वतंत्र होने के बावजूद एक-दूसरे से जुड़ने की बजाय खिंचते ही चले जा रहे थे।

इसी तरह ऊहापोह में चार दिन और निकल गए। पंडित मुकुंद माधव की हमें कोई सुन गुन नहीं मिल पाई। एक रात नौ बजे बिजली गई तो फिर बारह बजे तक नहीं आई। मैंने जोखन से कहकर लॉन में दो चारपाइयां डलवाई और उर्मिला से बोला—“लगता है हार्डिल के सब स्टेशन पर ही कोई बड़ा घपला हुआ है और आज रात तो बिजली आने की कोई संभावना ही नहीं दिखती। बाहर लॉन में भी गर्मी और मच्छर तो कम नहीं होंगे पर फिर भी कमरे में तो हम लोग उबल ही जाएंगे।”

महीना भले ही जेठ का रहा हो पर निरभ्र आकाश में चौदहवीं के चंद्रमा का प्रकाश झर रहा था। बिस्तर पर लेटकर मैं और उर्मिला दोनों ही करवटें बदल रहे थे। दोनों की ही आंखों में नींद का नाम नहीं था।

मैंने यह जानते हुए भी कि उर्मिला सो नहीं रही है, पूछा—“क्या सो गई है?”

“नहीं तो” उसने सक्षिप्त-सा उत्तर दिया। “मुझे भी नींद नहीं आ रही है। बिस्तर भड़ी जैसा तप रहा है।”

“हा यही तो! शायद इसी वजह से नींद नहीं आ रही।”

“तो फिर कुछ बातें ही की जाए।”

“कीजिए न! बातें करने को कौन मना करता है?”

मैं कुछ पल सोचता रहा कि किस विषय में बातें की जाएं? जब से उसके पति एकाएक बिना बताए चले गए थे तब से वह बहुत ही खिन्न और चिंतातुर दिखलाई पड़ती थी। मेरे सामने वह शब्दों में अपना दुःख व्यक्त नहीं करती थी पर मैं जानता था कि वह भीतर ही भीतर निरंतर छीजती चली जा रही थी। अपने पति की उपस्थिति में वह उनकी जितनी अनदेखी और अवमानना करती थी अब उसी अनुपात में मन में पश्चात्ताप कर रही थी।

मैंने कहा—“पंडित जी की याद आ रही होगी।”

“मुझे किसी की क्यों याद आने लगी?”

“तब बताओ, क्या सोच रही हो?”

“कुछ भी तो नहीं।”

“यह तो कभी हो ही नहीं सकता। मस्तिष्क का धर्म और कर्म तो सोचना

ही है। वह एक क्षण भी शांत नहीं बैठ सकता। वह तो स्वप्न में भी चैन में बैठने वाला पछी नहीं है।”

“यह सब मैं नहीं जानती। मैं तो इस मामले में निपट अनाड़ी हूँ। मन के सोचने की बात तो आप जैसे लोग ही जान सकते हैं।”

इसमें किसी-किसी विशेष या मामूली में कोई फर्क नहीं किया जा सकता। भले ही हमें कोई स्पष्ट दिशा न मिले मगर सोचना तो अहर्निश चलता ही रहता है।”

उसने प्रसंग बदलने की कोशिश की—“आप कोई बात कहिए न।”

“कौन-सी बात?”

“कोई भी, किसी भी संबंध में किसी के भी बारे में।”

“मैं तो पंडित जी के बारे में ही सोचता हूँ।”

“उनके बारे में? पर उनके बारे में क्या सोचते हैं?”

“यही कि ऐसी क्या बात हुई कि उन्हें इतना आघात लगा और वह बिना कुछ बताए ही चले गए।”

“मैंने तो कुछ ऐसा कहा नहीं था।”

उर्मिला जी आपने ऐसा कुछ कहा नहीं था, यह आप कैसे कह सकती हैं? आपने उनके द्वारा लाई हुई माला को लेने से इनकार करते हुए जो टिप्पणी की थी क्या वह आपको बिल्कुल भी याद नहीं है?”

उर्मिला कुछ देर तक तो चुपचाप लेटी रही और फिर वह बिस्तर पर उठकर बैठ गई। मैं बोला—“आपके शब्दों में जो जहर था उसे कोई भी पति नहीं पचा सकता। फिर वह जिस तरह के कर्मनिष्ठ और धर्मपरायण व्यक्ति हैं—उनके लिए तो असंभव ही था।”

“लेकिन मेरा आशय तो वह नहीं था।”

“आप और मैं जो बोलते हैं वह मात्र शब्द ही नहीं रह जाते हैं। हम बिना सोचे-समझे भी जो बोल जाते हैं उनके पीछे भी अर्थों की ध्वनि रहती है। वही अर्थ और ध्वनि प्रमाण बनते हैं।

“यह मैं नहीं जानती।”

“ऐसा हो नहीं सकता और यदि ऐसा है तो बहुत भयानक है।”

“पर अब उसको अनहोना करने का तो कोई उपाय मेरे पास नहीं है।”

“उपाय क्यों नहीं है? यदि तुम स्वीकार कर सको तो एक बहुत ही सरल उपाय है।”

उसने आंखें मेरे चेहरे पर केंद्रित करके पूछा—“बताइए। मुझे स्वीकार करने में क्या कठिनाई है।”

“मैं कल सुबह की ट्रेन से निकलता हूं और कल रात तक पिपरिया पहुंच जाऊंगा। पंडित जी वही होंगे और मैं उनको समझा बुझाकर अपने साथ ले आऊंगा। उनके आने पर तुम्हें अपने सवाद का स्वरूप बदलना होगा और कटूक्तियों पर नियंत्रण करना होगा।”

“रवैया क्या मेरा ही खराब है? क्या कटूक्तिया मैं ही बोलती हूं? वस उनके मुंह से तो बोलते समय फूल झरते हैं?”

“हुई न वही बात, जिसका मुझे डर था!”

“क्या डर था?”

“यही कि तुम मुझे एकदम गलत समझोगी! मैं तुम्हें यह समझाना चाहता था कि यदि हम व्यंग्य और कटूक्तिया न बोलें तो दूसरा भी उन्हें बोलने में सावधान रहेगा। दाम्पत्य संबंधों में सबसे ज्यादा गड़बड़ और असंतुलन पैदा करने वाली चीज कटु वचन ही है। क्या यह मोटी सी बात तुम्हारी समझ में अब तक नहीं आई।” फिर मैं हंसकर बोला—“सल वचन तो यही है—‘कटु वचन मत बोल रे तोहे पिया मिलेगे’।”

उर्मिला ने मेरी बात पर कोई टिप्पणी नहीं की वह कई मिनट तक बिस्तर पर चुपचाप बैठी रही।

मैंने फिर बात शुरू की—“देखो उर्मिला, दो में से एक रास्ता तो तुमको चुनना ही होगा। या तो तुम अपने पति महोदया के बारे में सब कुछ भूल जाओ और यह मान लो कि तुम्हारा उनसे कभी, कोई संबंध ही नहीं था। वैसी स्थिति में तुम्हें अपने जीवन की नए ढंग से शुरुआत करनी होगी। और यह भी स्पष्ट है कि वह कोई सुगम शुभारंभ नहीं होगा। दूसरी स्थिति यह है कि तुम उनके सहवास को अपनी नियति स्वीकार करो और अपने को कुछ इस तरह बदल डालो कि उनके अनुरूप बन सको।”

“वस मैं ही सब कुछ करूँ? मैं ही स्वयं को बदलने का प्रयास करती रहूँ—वह स्वयं को रत्ती भर भी बदलने को राजी न हों।”

“मैं तुम्हारे अभिमान और उससे जुड़े परिताप को समझता हूँ। मैं पूरा प्रयास करूंगा कि वह भी स्वयं को बदलकर तुम्हारे अनुरूप बनाने की चेष्टा करे। उन्हें अगर तुम्हारी जरूरत न होती तो वह यहाँ से इतने क्षुब्ध होकर जाने ही नहीं। जाते भी तो वह स्पष्ट करके जाते कि अब उनके जीवन में तुम्हारा कोई स्थान नहीं है।

जब कोई हमसे भीतर से नाराज होता है तभी इस तरह का आचरण करता है जसा कि पंडित मुकुंद माधव ने किया।”

“जिस मन में एक बार घृणा, कटुता और उपेक्षा घर कर जाती है वह सोमनस्य की वापसी क्या कभी संभव हो सकती है?”

“दरअसल तुम्हारा यह सोचना असंगत नहीं है पर मेरा अपना खयाल यह है कि देह में होने वाले परिवर्तनों पर हमारा बहुत अधिक वश नहीं है। वह जीवन के ऋतुचक्र से अनुशासित और संचालित होते हैं। हम बहुत प्रयास करके उनमें व्यक्तिचित परिवर्तन ला सकते हैं पर अतंत वह देर-मदेर अपनी ही निर्दिष्ट दिशा और दशा में पहुंच जाते हैं। इसके विपरीत मन जो बहुत अस्थिर और चंचल कहा जाता है उसमें परिवर्तन की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है। वह हमारी देह की गति का अनुगत नहीं है बल्कि प्रायः देह को ही उसका अनुसरण करने को विवश होना पड़ता है।” मैंने जरा रुककर उससे पूछा—“क्या मेरे सोच में तुम्हें कोई अनिवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती?”

“नहीं नहीं, मैं आपके विचार की विरोधी नहीं हूँ। आप अपनी बात कहते चलिए। मैं बहुत ध्यान से सब बातें सुन रही हूँ।”

“हा तो मैं कह रहा था कि मन ही है जिसे निरंतर गतिशील बनाए रखा जा सकता है और हमारा सारा जीवन व्यापार-पारस्परिकता और जागतिक संबंध मन के द्वारा ही निर्धारित होते हैं। हम पहली बार में जो पूरी तरह नहीं समझ पाते उसमें संशोधन करके दूसरी-तीसरी बार अथवा आगे कभी ठीक से समझने जानने में समर्थ हो सकते हैं? स्वयं में संशोधन करने की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है बिल्कुल उसी तरह जिस तरह हम पहली बार दूर से, किसी की बात ठीक से ग्रहण न कर पाने पर उसके निकट पहुंच जाने अथवा उसके समीप आ जाने पर फिर से ठीक तरह से सुन सकते हैं।”

उर्मिला बोली—“मैंने इस सब पर कभी इस तरह नहीं सोचा। आप तो निरंतर सोचते और गुनते ही रहते हैं इसलिए मानव मन के भीतरी तंत्र को भली प्रकार समझकर विश्लेषण करते रहते हैं। मैं ठहरी एक मामूली बुद्धि की साधारण स्त्री।”

मैंने गंभीरता समाप्त करने के लिए कहा—“वाह रे मामूली बुद्धि की साधारण स्त्री। यदि यही बात सच हुई होती तो फिर इतना साग बखेड़ा ही क्यों खड़ा हुआ होता। फिर तो तुम लंबा घूघट निकालकर रहती और पति महोदय जिधर को हांक देते उधर ही चल पड़ती। हमारे घरों में जब स्त्रियां घूघट निकालती

श्री तो उनके पति उनकी सूरत से भी परिचित नहीं होते थे। कई बार तो लौटती दो वारानां में ऐसे घपले हो जाते थे कि रेलगाड़ी के भम्भड़ में दुल्हिनें तक खदल जाया करती थी।”

उर्मिला बोली—“ये सब अतिशयोक्तिया हैं—इनमें कोई भी वास्तविकता नहीं हो सकती।”

“वास्तविकता कितनी है इसका अनुमान तुम इस घटना से लगाओ कि स्वयं महाकवि ग्वीन्द्रनाथ की ‘नौका डूबी’ रचना में इसी तरह दुल्हिनें बदल जाती है। गुरुदेव ने महज कपोल कल्पना के बल पर यह आख्यान खड़ा किया हो—इसे कोई नहीं मान सकता। दूर प्यो जाए, जब मेरी मा की मृत्यु हुई तो लोगो ने मेरे पिता से कहा कि आप अंतिम समय उनका चेहरा देख लें। जानती हो मेरे पिता जी का क्या उत्तर था? वह बोले, जिसका मुंह मैंने पूरे जीवन में भी एक बार नहीं देखा उसका मुंह अब आखिरी बार भी क्या देखूं।”

उर्मिला ने आश्चर्य व्यक्त किया—“क्या आप सच कह रहे हैं?”

“बिल्कुल सच कह रहा हू क्योंकि मैं उस समय वहां मौजूद था और कोई वच्चा नहीं था बल्कि उसी वर्ष एम.ए. पास कर चुका था। हम सब पांच भाई और एक बहन उनकी जीवित संतानें थीं।”

उर्मिला बोली—“मैं तो अवूझमाड़-बस्तर के जिस इलाके में रहती हूं वहां निरक्षर और सभ्य समाज की दृष्टि में जाहिल आदिवासी औरतें तक घूंघट नहीं निकालती।”

उसकी बात सुनकर मैं देर तक हसता रहा और बाद में बोला—“जब उनके पास परम गोपनीय अंगों को ढकने तक के लिए कपड़ा नहीं होता तो वह काहे से घूंघट निकालेंगी। घूंघट तो दरअसल वही संभव है जहां स्त्रियों के पास कपड़ा इफरात में हो। जो घाघरा या लहंगा हमारी मारवाड़ियों पहनती हैं उसके कपड़े से कई स्त्रियों की धोतियां बन सकती हैं।”

उर्मिला ने पूछा—“इस सबको क्या आप बहुत अच्छा समझते हैं और प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं?”

“यह प्रशंसा और निंदा की दृष्टि से देखने का प्रश्न नहीं है। यह समाज का एक स्वरूप है जो अभी भी बहुत से स्थानों और समाजों में कायम है। निश्चय ही वहां भी स्त्रियों-पुरुषों के बीच में द्वैध और तनातनी के कुछ कारण होते ही होंगे पर हमारे पढ़े-लिखे और तथाकथित प्रबुद्ध समाज में कुछ ज्यादा ही तनातनी दिखलाई पड़ती है। खुलेपन का जितना अकाल सुविधा भोगी समाज में है वैसा निम्न वर्ग में

कही देखने को नहीं मिलता। वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ही बराबर का श्रम करते हैं और अकुंठ भाव से जीवन-यापन करते हैं।”

“रात को शराब पीकर जब पति लौटता है तो वह अपनी घरवाली के साथ केसा पैशाचिक वर्ताव करता है—क्या आपकी जानकारी में है?”

“जरूर करता है मगर उसकी पत्नी उसको छोड़कर किसी और के साथ घर बसाने के लिए जितनी स्वतंत्र है उतनी सभ्य समाज की कोई स्त्री नहीं होती। यहाँ लंबे समय तक एक शीत युद्ध चलता रहता है और तलाक की प्रक्रिया भी अच्छी खासी लंबे समय तक खिचती चली जाती है। आपसी संबंधों के तार टूटने में भी बरसों लग जाते हैं। पति-पत्नी के बीच में भावात्मकता के सकट पर उतना जोर नहीं रहता जितना कि आर्थिक सुरक्षा का हौवा खड़ा कर दिया जाता है।”

“क्या पति से ठुकराई हुई तिरस्कृत स्त्री का आर्थिक सुरक्षा नहीं चाहिए?”

“बिल्कुल चाहिए। मैं कब इनकार करता हूँ कि नहीं चाहिए मगर इस पूरे प्रकरण में दाम्पत्य का प्रश्न कहाँ रह जाता है? उसकी तो हत्या होकर ही रहती है। प्रेम-व्रेम जैसी चीजें तो खाम-खयाली भरा मजाक ही बनकर रह जाती है।”

“प्रेम और दूसरी संवेदनाएं गहरी और मूल्यवान हैं पर देह रक्षा की आवश्यकता से कैसे इनकार किया जा सकता है। इसी के रहने से बाकी सवेग-आवेग भी बचते हैं। अन्यथा देह की अनुपस्थिति में किस स्थूल और सूक्ष्म का अस्तित्व सुरक्षित रह पाता है।”

मैं बोला—“मैं देख रहा हूँ कि पंडित जी के एकाएक चले जाने से तुम्हें देह अत्यंत महत्त्वपूर्ण लगने लगी है।”

“किसी के आ जाने चले जाने से वह न तुच्छ हो जाती है न महत्त्वपूर्ण। देह का अपना एक अलग ही सत्य है—उससे कोई इनकार नहीं कर सकता। यहाँ तक कि वह भी जो देह का लोकोत्तर आनंद प्राप्ति में बाधक मानने का भ्रम पाले हुए है।”

मैं बोला—“उनकी तो बस कुछ पूछो ही मत। दूसरों को जो देह की तुच्छता का उपदेश देने में अव्वल हैं और शरीर की भर्त्सना करने में कहीं कोई कसर ही नहीं छोड़ते स्वयं की देह को रेशम से सजाकर रखते हैं। उन्हें मोटे मुलायम गद्दे और वातानुकूलित सज्जापूर्ण कक्ष के बिना तो नींद ही नहीं आती। यह पाखंड इतना सनातन है कि अब इसकी ओर कोई आंखें भी नहीं

उठाना चाहता ।”

उर्मिला ने कहा—“बस तो फिर अगर एक अवला नारी पति गृह में ठुकराए जाने पर प्राणा की रक्षा के लिए न्यूनतम आर्थिक सामाजिक सुरक्षा चाहती है तो कहां दोषी है।”

“विल्कुल भी दोषी नहीं है ।” कहकर मैंने धुर पश्चिम की ओर ढलकते चांद की निष्प्रभ चांदनी देखी और बोला—“अरे बातों में तो सारी रात ही निकल गई । मैं सोचता हूँ अब थोड़ी देर सोने की कोशिश करनी चाहिए । अब तो हवा भी अपेक्षाकृत ठंडी है ।”

मैंन करवट बदलकर सोने का प्रयास किया । उर्मिला जो बहुत देर से विस्तर पर वैठी बातें कर रही थी—लेट गई । पता नहीं उसे नींद आई या नहीं पर मैं तो कुछ ही क्षणों में गहरी नींद में डूब गया ।

ज्यो-ज्यो समय गुजरता चला गया—पंडित मुकुद माधव को किसी तरह सनझा-बुझाकर वापस लाने का मेरा इरादा भी बराबर पक्का होता चला गया। वैसे तो मैं उर्मिला का भी अपने साथ लेकर पिपरिया जा सकता था पर मुझे डर यही था कि कहीं वहां उन दोनों की बीच की कलह और अधिक मुखरित न हो उठे। जिन लोगों को अभी तक उनके बीच की टूटी कड़ियों का पता नहीं होगा वह भी अनायास इस सबको जान जाएंगे। क्या पता पंडित जी हम दोनों को घर में ही न घुसने दें। असली अपराधी तो वह मुझे ही समझते होंगे क्योंकि उर्मिला दिल्ली में मेरे साथ ही उनसे अलग हो गई थी और घर पर लौटकर भी वह उनसे कटुतापूर्ण व्यवहार करती रही थी। हो न हो इसके पीछे वह मेरी ही शह मानते होंगे। वह यही सोचते होंगे कि मैंने ही उनकी पत्नी को उनके विरुद्ध भड़काने का षड्यंत्र रचा है।

पर जाने से पहले मेरे लिए यह जानना आवश्यक था कि पंडित जी यहां से सीधे अपने घर पिपरिया ही गए हैं या ग्रीष्मावकाश में काम-काज से मुक्त होने के कारण कहीं और निकल गए हैं। वह धर्मप्राण व्यक्ति थे इसलिए तीर्थयात्रा के लिए निकल जाना भी असंभव नहीं था। उनकी आवश्यकताएं तो न्यूनतम थीं ही, हो सकता है बद्रीधाम, केदारनाथ-गंगोत्री जमुनोत्री की यात्रा पर निकल पड़े हों। वैसे भी इस मौसम में आध्यात्मिक वृत्ति के लोग हिमालय की दिशा में अच्छी संख्या में जाते हैं।

मैं यह भी सोचता था कि भले ही वह अपनी पत्नी से बहुत नाराज हो पर मुझे अपने जाने की सूचना कहीं से भेज सकते हैं। वह पूरी तरह से रिश्ता तोड़कर उर्मिला को अपने जीवन से बहिष्कृत कर चुके होंगे, मुझे इस पर यकीन नहीं था।

जब कई दिनों बाद तक भी पंडित मुकुद माधव का कोई पत्र नहीं मिला तो

मुझ लगने लगा कि उन्होंने उर्मिला से अघोषित रूप से सवध विच्छेद कर लिया है। मुझे यह भी आभास हुआ कि भले ही वह यहाँ से सीधे घर न गए हों पर जहाँ भी गए होंगे वहाँ से लौटकर अपने गृह नगर पहुँच चुके होंगे।

मैंने जिस दिन प्रस्थान करने की बात तय की थी उसी दिन निरभ्र आकाश से वज्र की तरह पंडित मुकुंद माधव अकस्मात् हमारे घर आ पहुँचे।

मैं तो उनके आने की कल्पना से भी किनारा कर चुका था। उनको यों यकायक आया देखकर सन्नाटे में आ गया।

दुआ सलाम के बाद मैंने उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा। संयोग से उस समय उर्मिला नहाने गई हुई थी।

जब वह बाहर बरंडी में मोढ़े की पीठ से टिककर इत्मीनान से बैठ गए तो मैंने पूछा—“पंडित जी लगता है खूब घूम-फिरकर लौटे हैं।” मैंने इस बात का जान-बूझकर उल्लेख नहीं किया कि वह मुझे और उर्मिला को कुछ भी बतलाए बिना कहा चले गए थे।

“हाँ बहुत घूमा। रामेश्वरम् तक हो आया हूँ। दक्षिण के अनेक तीर्थ देखे। सब तीर्थ विलक्षण हैं और दक्षिणायत घोर धार्मिक वृत्ति के प्राणी हैं।”

“चलिए यह तो अच्छा किया। अभी तो गर्मियों की छुट्टियाँ भी बाकी हैं। अवकाश का अच्छा सदुपयोग कर लिया आपने। हमें बतलाते तो हम भी आपके साथ ही लेते।”

वह एक क्षण के लिए गंभीर हो गए और उनके चेहरे पर सख्ती का भाव आ गया परंतु अगले क्षण ही वह तिरोहित भी हो गया। वह बोले—“वास्तव में सहसा जो संकल्प बनता है वही पूर्णता की ओर जाता है। बहुत सोच-विचार करने के बाद अब्बल तो कुछ तय ही नहीं हो पाता और अगर होता भी है तो उसका भीतरी आनंद औपचारिकताएं पूर्ण करने में निष्प्राण हो उठता है।”

“हाँ यह तो आप ठीक कहते हैं कि बहुत सोच-विचार करने के बाद कहीं जान का उत्साह मंद पड़ जाता है और बिना तय किए कहीं के लिए भी निकल पड़ने में ही एडवेंचर का सच्चा सुख मिलता है।”

मैंने कुर्सी से उठते हुए कहा—“मैं अभी आपके लिए नीबू का शर्बत बनवाता हूँ। कितनी गर्मी पड़ रही है। आपको प्यास लगी होगी।”

उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा—“नहीं-नहीं, मुझे अभी प्यास विल्कुल नहीं है। वह सब कुछ स्नान आदि करने पर ही पिऊंगा।” फिर कुछ क्षण ठहरकर उन्होंने पूछा—“हमारे पंडित जोखन जी मिश्र महाराज कहा है—अभी अपने

गाव से लाटे था नहा

मैने जोखन के नाम के साथ इनने सारे विशेषण लगे देखकर कहा—“मिश्र जी तो दो दिन बाद ही गाव से लौट आए थे। इस समय मडी से शाक भाजी लेन गए है। बस आते ही होंगे।”

पंडित जी के मुख पर सतोष की रेखाएं खिच आई और वह अपनी अटैची का ताला खोलने लगे। जब वह अटैची खोलकर नहाने के लिए कपड़े निकाल चुके तो मे बोला—“मैं देखता हू कि बाथरूम खाली हो गया क्या?”

“अच्छा-अच्छा कोई नहा रहा है तो कोई बात नहीं है। मुझे स्नान की कोई बहुत जल्दी भी नहीं है।”

मैने मुस्कराकर कहा—“कोई जैसा बेगाना व्यक्ति इस घर में नहाने के लिए नहीं आ गया है। गुसलखाने में आपकी परम प्रिया पत्नी श्रीमती उर्मिला देवी ही स्नान कर रही हैं। आपको यही कहना उचित है।”

“अच्छा तो उर्मिला नहाने गई हैं।” उनके चेहरे पर भी हल्की-सी मुस्कान आ गई—“अरे तो वही सही भाई। बात को यो न कहकर कुछ बदलकर कह लो, बात तो एक ही है।”

“वाह पंडित जी! दोनो बातें एक कैसे हो सकती है? हर बात का अपना अलग महत्त्व होता है फिर आप तो ठहरे भाषा के भीतरी तंत्र को सवारने वाले। आपके लिए तो इसका महत्त्व और भी कहीं प्रमुख है।”

तभी जोखन दोनो हाथों में झोले लटकाए आते दीख पड़े। उन्होंने पंडित मुकुंद माधव को मोढ़े पर आसीन देखा तो दोनों झोलों को दीवार से टिकाकर बोले—“पडज्जी पालागन। का तीरथ जात्रा कर आए रहे? हम वी यही सोचा के—हो न हो पडज्जी कहू तीरथ पर निकरि गए रहे।”

“हा भई दूर निकरि गये रहे तिरुपति, मदुराई, रामेश्वरम् सभी जगह घूम आए।”

जोखन गद्गद भाव से दोनो हाथ जोड़कर बोले—“धन्न महाराज! हमारी तो बस इच्छा ई रही कहूं बी निकरि नहीं पाये। आप जैसे पुन्नात्मा के दरसन ई हमारी चारों धाम की जात्रा समझो पूरी।” फिर वह क्षण भर ठहरकर बोले—“पन भैनजी कू बी संगई लै गये होते लगे हाधन।”

जोखन के औचक शब्दों से पंडित जी जरा देर के लिए तो दबसर में पड़ गए। फिर कुछ सोचकर बोले—“उतनी दूर तक जाने के बारे में पहले से कोई विचार नहीं था बस एकाएक ही मन में बात उठी और चल पड़े।”

“चलओ ऐसे ई सई । फिर कवी चले जाइयो—अबी तो लम्बी उमर सामने परी है ।”

जोखन झोले उठाकर रसोई को ओर जाने लगे तों मैं बोला—“देखना गुसलखाना खाली हो गया क्या? पंडित जी भी स्नान कर लेगे ।”

“हओ अब्बी लेवो ।” कहकर वह आगे बढ़ गए ।

जोखन के पीछे मैं भी अंदर चला गया और उर्मिला को ड्रेसिंग टेबिल के सामने बाल बनाते देखकर बोला—“लाओ जल्दी से पर्स से ग्यारह रुपये निकालो ।”

उसने भोहों में वल डालकर पूछा—“ग्यारह रुपये? सुबह ही सुबह क्या कहीं कोई परसाद बरसाद चढ़ाने का संकल्प कर लिया है ।”

“हा जी! खबर ही ऐसी है । ग्यारह क्या खुशी के मारे ग्यारह सौ भी देने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए ।”

उसने आईने से नजर हटाई और पलटकर मेरी ओर देखते हुए बोली—“क्या आपको कोई बड़ा पुरस्कार मिलने की घोषणा अखबार में छपी है ।”

“पुरस्कार? अरे उससे भी बहुत बड़ी खबर है—अपने पंडित मुकुंद माधव जी तिरुपति, मदुराई और रामेश्वरम् आदि पवित्रतम तीर्थों की यात्राओं का पुण्य कमाकर लौटे हैं ।”

यह बात सुनते ही उर्मिला के चंहरे पर तनाव उभर आया और वह एकाएक असहज हो उठी । उसने ड्रेसिंग टेबिल की ओर मुड़कर अपने माथे पर एक सर्पाकार बिंदी लगाते हुए कहा—“वह यहां क्या करने आए हैं?”

मैंने उसके मस्तक की बिंदी की ओर संकेत करके कहा—“स्वयं को तुम्हारे माथे के सांप से डसवाने आए हैं ।”

उसने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया और दूसरे कमरे की ओर बढ़ गई । मैं तुरत उसके पीछे-पीछे गया और बोला—“देखो उर्मिला । मैं तुम्हारे मन की पीड़ा, आक्रोश, मान-अभिमान सभी कुछ बहुत अच्छी तरह समझता हू मगर साथ ही मैं उस व्यथा से भी अपरिचित नहीं हू जो तुम पिछले दस-बारह दिनों से रात दिन भोग रही हो । उनके यो चुपचाप चले जाने से तुम्हारा बहुत अपमान हुआ सही पर जब वह लौटे आए हैं तो वह निश्चय ही यहां से जाते समय जैसे थे वैसे अब नहीं हैं ।”

उसने आवेश में पूछा—“यह आप कैसे कह सकते हैं? क्या तीर्थ यात्रा करके आदमी कुछ और हो जाता है? क्या उसका मन बदल जाता है? उसके व्यवहार में क्या कोई बड़ा परिवर्तन हो उठता है?”

“इसका उत्तर है शायद हा और शायद नहीं।”

“यह तो कोई बात ही नहीं हुई।”

“बात तो हुई क्योंकि जाते समय पंडित जी जिस आवेश जनित मनःस्थिति में यहाँ से गए थे उसमें उनके यहाँ एक प्रतिशत भी लौटने की गुंजाइश नहीं थी लेकिन जब वह पिपरिया न जाकर फिर यहीं लौटे हैं तो कुछ सोचकर ही लाट होगे।”

“मैं तो इसे सीधा-सादा भगोड़ापन मानती हूँ।”

“वह बात तो एक शाश्वत सत्य है। पुरुष ही स्त्री को छोड़कर भागता है और वही फिर से पलटकर दुर्निवार गति से उसी की ओर लौटता है। पर यह भी सच है कि स्त्री इतने पर भी उसको दुत्कारती नहीं है बल्कि स्वीकार ही करती है।”

“जिस समाज ने उसे हजारों वर्षों से कुचलकर रखा है उसी ने इस मानसिकता को जन्म दिया है कि स्त्री पुरुष को कुछ भी करने की छूट दे और उसके जो भी अन्याय अत्याचार हो उन्हें खुशी-खुशी सहे। ऐसा करने पर सती-साध्वी देवी महादेवी, पुण्यात्मा अन्नपूर्णा और भी न जाने किन-किन छन्दों से अलंकृत की जाए। पर उसके शोषण पर किसी प्रकार की वैयक्तिक अथवा सामाजिक बहिष्कार न लगाई जाए।”

निश्चय ही उर्मिला के स्वर में जो आक्रोश का उद्घोष था उसे बाहर बराड़े में बैठे पंडित मुकुंद माधव सुनने से वंचित नहीं रह सकते थे। किन्तु उन्होंने उर्मिला की इस प्रकृत अभिव्यक्ति पर अपनी कोई शाब्दिक प्रतिक्रिया मुखरित नहीं होने दी।

मैंने उर्मिला से इस संबंध में और अधिक बातचीत करना उचित नहीं समझा और बोला—“पंडित जी को मैं स्नानघर में भेज रहा हूँ—इतनी देर में जोखन जो भी साग-भाजी लाए है—अपनी पसंद से बनाने के लिए कह दो। हम सब लोग आज नाश्ता साथ ही करेंगे।” फिर एक क्षण उर्मिला के मुख पर दृष्टि केंद्रित करते हुए बोला—“तुमसे मेरी एक विनम्र प्रार्थना यह भी है कि नाश्ते अथवा खाने पर बैठते हुए भीतर का मनोमालिन्य उसमें शामिल न किया जाए। लड़ने भिड़ने के लिए और भी अनेक मोर्चे हैं।”

मेरी बात से उर्मिला के मुँह पर सहज हसी उभर उठी और वह बोली—“लगता है सभी पुरुष स्त्रियों को कलहान्तरिता ही समझते हैं।”

“यह तो बड़ा मुश्किल शब्द है—इसका अर्थ क्या कलह की समाप्ति होता है?”

“कलह की समाप्ति नहीं, इसका अर्थ कलह का बिगुल फूकना होता है। लगता है आपका इस शब्द से कभी भी सामना नहीं हुआ।”

“खुदा करे कभी हो भी नहीं।” कहकर मैं बरांडे की दिशा में चल पड़ा।

पंडित मुकुंद माधव अखबार का पन्ना फैलाए उसमें इस तरह डूबे हुए थे मानो उन्हें आस-पास की दुनिया का कुछ भी पता न हो। मैंने उनसे कहा—“आप तो स्नान-ध्यान से पहले संभवतः पानी भी नहीं पीएंगे। अच्छा हो कि आप पहले नहा-धो लें। अभी स्नानघर खाली है। आप चाहे तो उसका उपयोग कर लें।”

पंडित जी ने तो नहाने के लिए कपड़े पहले ही अटैची से निकालकर खाली मोटे पर रखे हुए थे। उन्होंने हाथ के अखबार की कई तहें कीं और उसे कुर्सी पर रखकर खड़े हो गए। चलते हुए बोले—“क्या आप नहा चुके हैं।”

“नहाने की स्थिति तक पहुंचने से पहले मुझे बहुत से नखरो से गुजरना पड़ता है। अभी तो दो बार चाय और पीनी पड़ेगी उसके बाद अखबारों का पारायण करते हुए बाथरूम में समाधि लगानी पड़ेगी। वह कम से कम दो घंटों का सत्र तो होगा ही।”

वह अपने कपड़े उठाकर चलने लगे और बोले—“आधुनिकता का और क्या आशय है। यही तो कि आप अपने दिन की गतिविधियों में कम से कम तीन-चार घंटे ‘बाथरूम’ को समर्पित करने के लिए तत्पर रहें। यदि त्वरित गति से कोई काम करने का अवसर आ जाए तो आपका ‘बाथरूम’ आपको छूट ही न दे।”

मैंने हंसते हुए कहा—“देववाणी की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि वहा साधारण बात भी अलंकृत किए बिना नहीं कही जा सकती और अतिशयोक्ति अलंकार की तो एक तरह से भरमार ही है।”

“आप अंग्रेजी दां सज्जनों का हाजमा भी तब तक नहीं संभलता जब तक बेचारी संस्कृत पर सौ-पचास लानतों की वर्षा न कर ले। बाकी संस्कृत ही मात्र एक ऐसी भाषा है जिसमें सूत्रों की रचना हुई है और साधारणतया सक्षिप्ततम सूत्रों की व्याख्या करने में एक नहीं दर्जनो पुस्तकों की रचना हुई है।

पंडित जी जब नहाने के लिए बाथरूम में दाखिल हो गए तो मैंने रसोई में जाकर देखा उर्मिला ने झोला उलटकर सारी सब्जियां फर्श पर फैला रखी थीं और वह उन्हें अलग-अलग रख रही थी। मुझे देखकर बोली—“आपको चाय चाहिए न? मैं अभी दो मिनट में बनाकर लाती हू।”

मैंने कहा—“तुम जिस काम में लगी हो वह बहुत महत्वपूर्ण है। चाय क्या

है वह तो बनती ही रहती है और मैं भी उसे बनाने में थोड़ा बहुत समर्थ हो चला हूँ।”

मैंने चाय का वर्तन उठाकर उसमें पानी डालते हुए पूछा— ‘क्या तुम भी चांदी चाय लोगी?’

“दरअसल इच्छा हो न हो पर जब कोई पूछता है तो चाय पीने की इच्छा पैदा हो ही जाती है।”

“चाय की यही संस्कृति है कि इसे किसी समय भी स्वीकार ही मिलता है। अगर चाय बनाते समय दूसरे से चाय लेने की बात न पूछी जाए तो वह मन में बुरा मानता है कि पूछा भी नहीं। इसके अलावा चाय अकेले पीने में मजा भी कुछ नहीं आता।”

इसी समय जोखन चौके में घुसे और पूछने लगे—“आज का खाना बनेगा?”

मैं बोला—“यह उर्मिला जी ही तय करेगी कि क्या-क्या बनेगा पर मेरा खयाल है चावल जरूर बना लेना। पंडित जी तो दाल-भात के ही शौकीन हैं।”

“अजी भात तो जरूर ही बनवें।” कहकर जोखन भी उर्मिला के सामने चौके के फर्श पर बैठ गए और सब्जियों में से भिड़ी अलग करने लगे।

मैंने चाय छानकर छोटा-सा गिलास उर्मिला के पास फर्श पर ही टिका दिया और अपनी चाय लेकर किचन से बाहर निकल गया।

इसी समय सुबह की डाक लेकर डाकिया आ गया। कई पत्र उलटने पलटने के बाद मुझे एकाएक यह लगा कि मैंने गत दो सप्ताह से कागज और कलम को छुआ तक नहीं है। यह अनेक वर्षों में पहली बार हो रहा था।

पंडित मुकुंद माधव नहाकर लौटे तो ‘अतिथि कक्ष’ में पूजा करने बैठ गए और मैं नहाने-धोने में लग गया।

नहा-धोकर जब मैं नाश्ते के लिए डाइनिंग टेबिल के सामने पहुंचा तो मैं यह देखकर चकित रह गया कि स्टेनलेस स्टील की थालियों में इडली और दोसा परोसे हुए थे।

मैंने पंडित जी को पुकारकर कहा—“अरे पंडित जी इधर आकर तो देखिए—क्या चमत्कार हो रहा है।”

वह आधी धोती गले में डाले हुए आए और खाने की मेज पर दक्षिणी व्यंजन देखकर बोले—“अरे लगता है मद्रास और पांडिचेरी तो मुझसे पहले ही यहां आ पहुंचे। यही सब खाना तो दक्षिण में हर शहर ग्राम में खाने को मिलता है।”

“तब तो आपको यह सब खाने का अच्छा अभ्यास हो गया होगा।”

“जैसा देस वैसा भेस—यह तो जगत् प्रसिद्ध कहावत है। जब वहा रहन ही था तो क्षुधा-पूर्ति के लिए यही कुछ खा-पीकर रहना पड़ा। पर यह मैंने वह भी कह रखा था कि मैं प्याज नहीं खाता हूँ। आप जानिए सारा दक्षिण प्याज लाल मिर्च और चावल पर जीवित है। पंडितजी ने कानो को छूकर कहा—“हो राम। कितनी प्याज लाल मिर्च और गरम मसाले का प्रयोग होता है। सारे देश में इन वस्तुओं की इतनी खपत नहीं होगी जितना कि अकेले दक्षिण के कुछेक राज्यों में होती होगी।”

इसी समय ट्रे में दो भग काफी लेकर उर्मिला आई और मेज पर भग टिकाकर लौटने लगी। उसने पंडित जी की ओर आखे उठाकर देखा तक नहीं। पंडित जी ने भी अपराधी भाव से अपना मुंह नीचे कर लिया।

मैंने उर्मिला को संबोधित करते हुए कहा—“आप किधर चल दीं। यह काफी और दोसा क्या हम अकेले खाएंगे पीएंगे?”

“आप लोग खाए, मैं और जोखन बाद में खा लेगे।”

मैंने दृढ़ता से कहा—“कोई वाद-आद नहीं होता—आप यहीं हमारे साथ बैठकर खाएंगी।” और फिर मैं उसके पति की ओर मुंह करके बोला—“पंडितजी इन खाद्य पदार्थों में प्याज तो है ही नहीं, वाकी मिर्च-मसाले भी गड़बड़ अनुपात में नहीं होंगे—आप खाना आरंभ करें।”

मेरे आग्रह पर उर्मिला सिर झुकाकर एक कुर्सी पर बैठ गई और उसने काफी का प्याला अपनी ओर सरका लिया।

मैंने एक थाली पंडित मुकुंद माधव की ओर सरकाकर कहा—“काश। आपने दक्षिण के प्रवास में काफी का स्वाद भी चख लिया होता तो आपको लगता कि दोसा-इडली-काफी में क्या जुगलबंदी है।”

यह देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि पंडित मुकुंद माधव ने काफी का दूसरा प्याला अपनी ओर सरका लिया और बोले—“आप हमें निरा-भुक्कू पुराण पंथी और पोंगा पंडित समझने हैं। मैं काफी को कोई निषिद्ध पेय नहीं मानता। दक्षिण के सभी जनेऊधारी और धर्म सिद्ध पुरुष काफी बड़े शौक से पीते हैं। हम भी इसमें कोई वैसा परहेज नहीं हैं। अभी पीएं लेते हैं।”

उन्हें काफी का घूंट भरते देखकर उर्मिला को भी, जैसे बिजली के करेट का झटका लगा। उसने तुरंत सिर उठाकर उन्हें काफी पीते देखा और फिर अचरज से मेरा मुंह देखने लगी। मैं बोला—“चलो एक शुभारंभ तो हुआ। अब

इसी खुशी में उर्मिला जी आप एक-दो कप काफी और तैयार कर ले जैसा कि कहावत है कि नया मुसलमान प्याज कुछ ज्यादा ही खाता है और अल्ला-अल्ला की गुहार भी।”

उर्मिला उठकर जाने लगी तो मैं बोला—“तुमने इतने शौक से यह जो इडली दोसा तैयार किया है यह पूरी तरह गरम भले ही न रह गया हो, कुछ तो गरम है ही। पहले इसी का स्वाद ले लिया जाए बाद में काफी बना लेना।”

उर्मिला मेरे कहने से बैठ गई और उसने दोसा की थाली अपनी ओर खींचकर हाथ से ही परांठा सब्जी की तरह दोसा खाना शुरू कर दिया। पंडित मुकुंद माधव भी सिर झुकाकर खाने लगे।

खाते हुए मैं बराबर उन परिवर्तनों को लक्ष्य करता रहा जो इस बीच पंडित मुकुंद माधव में हुए थे। वह काफी का नाम सुनते ही भड़कते थे और पता नहीं उस पर कितनी लाजतें भेजते रहते थे। मगर अब वह काफी बिना मुह बिगाड़े ही पी रहे थे। उन्होंने अपने के बाद उर्मिला की कड़वी बातें चाहे परोक्ष रूप में ही सुनी थीं पर अपनी कोई मारक प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी। इस समय भी वह एक आज्ञाकारी बच्चे की तरह खाने की मेज पर बैठे सिर झुकाए दोसा खा रहे थे। पहले शायद वह दोसा छूते भी नहीं होंगे।

उर्मिला ने भी उनके पर कोई भी अपने स्वभाव में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं देखा। उनका आत्मालोकन और त्यागालोकन के अनुसर सात्विक वृत्ति वाले इस प्रकार के बदलाव में समर्थ होते देखा। पंडित मुकुंद माधव की प्रचंडता और अत्यस्थ रहने वाली वृत्ति दूसरे के दृष्टिकोण को ग्रहण करने की सदाशयता की ओर प्रवृत्त हो रही है।

उर्मिला यदि उनके इस परिवर्तन को सहानुभूति से समझने का प्रयास करे तो निश्चय ही उनके बीच-दूर तक फैली खाई भर सकती है। उनके बीच की संवादहीनता और अवीलापन बहुत कुछ दूर हो सकता है। उर्मिला के भीतर जो कड़वाहट पनपी थी, जो उनके जीवन के अंधेरे को प्रकाशित करती थी उसका पीछे बरसों के पारस्परिक विरोध के कारण ही था। वे अलग-अलग रूप से सबद्ध थे।

उर्मिला अपना खाना खत्म करके कब अपनी थाली उठाकर चली गई इसका मुझे पता भी नहीं चला। मैं बाहर की गतिविधियों से बेखबर होकर उन दोनों के विग्रह को सुलझाने में ही चिंतामग्न था।

उर्मिला ने गरम काफी का प्याला मेरे सामने लाकर रखा तो मुझे होश हुआ

और मैंने देखा कि पंडित जी भी अपना खाना खत्म कर चुके हैं। वह मेरी थाली व ओर सकेत करके बोले—“दूसरों को गरम खाने की हिदायत तो आपने खूब दी मगर आपका खाना तो ज्यों का त्यों पड़ा है। गरम तो इसे किसी दशा में नहीं कहा जा सकता।”

“अरे।” कहकर मैंने दोसा का एक टुकड़ा तोड़ा और मुंह में रख लिया।

उर्मिला ने मेरी थाली उठाने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—“इसे आप थाली में ही छोड़ दीजिए। मैं अभी दूसरा दोसा बनाकर लाती हूँ। दोसा बनाने का सामान अभी बाकी बचा पड़ा है।”

“उसे भी बना लाओ पर इसे तो मैं अब खाऊंगा ही। गरम खाने का जैसा अपना अलग आनंद है उसी प्रकार ठंडा खाने का भी कुछ और मजा है।”

जब उर्मिला चौके की ओर चली गई तो मैंने लगभग फुसफुसाते हुए कहा—“पंडित जी, आपका इस तरह लौटकर आ जाना एक बड़ा वरदान समझता हूँ मगर जिस तरह आप सहसा और कुछ कहे-सुने अंतर्धान हो गए थे उससे उर्मिला को बहुत वेदना हुई है। साथ ही मैं भी बराबर चिंतित बना रहा। यदि आप आज न आ गए होते तो मालूम है मैं क्या करने वाला था।”

“आप अखबार में गुमशुदा व्यक्ति की तलाश का विज्ञापन छपवा देते।”

“मैंने खैर वैसा करने के बारे में तो कभी नहीं सोचा था।”

“तो फिर यही करना शेष रह जाता है कि आप मेरी गुमशुदगी की पुलिस में रिपोर्ट लिखवाते।”

मैं बोला—“उससे क्या होने वाला था?”

“पुलिस मुझे तलाश करते हुए पिपरिया पहुंचती।”

“मैं आपके जैसे सम्माननीय और भद्र नागरिक की शान में इस तरह का भोंडा कर्म कैसे कर सकता था!”

“तब आप ऐसा क्या करने जा रहे थे।” पंडित मुकुंद माधव ने अपनी ठुड़ी खुजलाते हुए मेरी ओर देखा।

“मैं स्वयं आपकी तलाश में आज मध्य प्रदेश जाने वाला था। मैं अपने एस. डी. ओ. मित्र के पास जाकर आपको पिपरिया में दिखवाता और अगर आप वहां होते तो आपको बेडियों में जकड़कर यहां ले आता।”

“तब तो यह एक तरह से खैरियत ही हुई कि मैं अपने शहर में नहीं गया अन्यथा आप मुझे एक कैदी की भूमिका में उपस्थित कर देते।”

मैंने कहा—“पंडित जी, कैदी तो आप हम सभी हैं। जैसा कि रूसो ने कहा

है—“मैन इज बोनं फ्री बट ही इज एवरीवेयर इन चेस (मनुष्य स्वाधीन पैदा होता है पर बाद में हर जगह बधनो में जकड़ा हुआ रहता है।)

वह बोले—“मैं रूसो की इस बात से सहमत नहीं हूँ। मनुष्य अपनी आत्म शक्ति के बल पर मुक्ति प्राप्त करता है। आत्मा हमेशा मुक्त है—उसे कौन अपने पाश में बाध सकता है?”

मैं बोला—“मैं आत्मा जैसी हवाई चीज़ को लेकर वहस में पड़ना नहीं चाहता और उसका लाभ भी क्या है? आप यदि वैसे ही मुक्तात्मा होते तो यहां से जाने के बाद फिर भूलकर भी इधर न लौटते। यह तो आपके भीतर ही कोई ऐसा मजबूत बधन था जो आपको यहां वापस ले आया। हालांकि जो मैं कह रहा हूँ, वह बहुत कठोर और अप्रिय है परंतु मैं उसे कह लेने की बाध्यता अनुभव करता हूँ। आप जिस तरह उर्मिला जी को निराधार और बिना कुछ भी बताए छोड़कर चले गए थे यदि इसी प्रकार वह भी कभी आपको यो अचानक छोड़कर चली गई होती तो पता नहीं आप क्या कर डालते।”

पंडित मुकुंद माधव माथे पर उंगलियां रगड़ते हुए बोले—“मैं क्या करता? मैं तो कुछ भी नहीं करता।”

उन्हें दिग्भ्रमित देखकर मैं बोला—“आप चाहे और जो कुछ भी करते पर उर्मिला जी की तरफ आंखें उठाकर तो न देखते। बहुत रातों की तो बात जाने ही दें—यदि वह एक रात भी यों एकाएक लापता हो जाती तो वह आपके लिए कुल्टा और अस्पृश्य तो निश्चय ही हो जातीं। आपके ही लिए क्यों, एक पूरा समाज जो मेरी आपकी परिचित के दायरे में आता है उनकी ओर घोर घृणा और उपेक्षा भरी आंखों से ही देखता। हमारे आपके न्याय के देवताओं का भी उस दशा में जो निर्णय होता उसे मैं आपको बतलाने की जरूरत नहीं समझता हूँ।”

मेरी अत्यंत कठोर बात सुनकर भी पंडित मुकुंद माधव के चेहरे पर कोई अप्रीतिकर भाव नहीं उभरा। वह बहुत गंभीर होकर सोचने लगे।

इसी समय उर्मिला एक प्लेट में दो दोसे लेकर आ गई। मैंने उसकी लाई हुई प्लेट से एक दोसा उठा लिया और प्लेट पंडितजी की ओर बढ़ा दी।

उन्होंने कहा—“मेरा पूरा खाना हो चुका है—कृपया इसे भी आप ही लें।” और यह कहकर वह हाथ धोने चले गए।

मेरा खयाल था कि वह वाश बेसिन पर हाथ धोने के बाद फिर से हम लोगों के पास लौटकर आएंगे पर वह नहीं लौटे। संभवतः वह बाहर बरांडे में जाकर ही बैठ गए।

उर्मिला को कुछ भी पता नहीं था कि मैं उसकी अनुपस्थिति में उसके पति से क्या बातें कह चुका हूँ। हो सकता है कि वह मेरी कही हुई बातों पर विस्तार से सोचने के लिए ही बाहर चले गए थे।

मैंने वाकी वच हुए दोस की ओर सकेत करके उर्मिला से कहा—“अब यह तो तुम ही खा सकती हो या फिर जोखन महाराज खाएंगे।”

“मैंने तो इतने मन से आज इडली दोसा बनाया था। पता नहीं कैसा बना होगा। आपने तो कुछ भी खाया ही नहीं।”

उर्मिला के चेहरे पर उदासी देखकर मैंने कहा—“दोसें और इडली लाजवाब बनी हैं। इनमें कोई कमी नहीं है लेकिन इससे अधिक खा सकने की मेरी स्थिति नहीं है। हाँ, अगर दोपहर का खाना गोल करने की इजाजत दो तो मैं इसे भी निपटा सकता हूँ।”

“यह मैं कैसे कह सकती हूँ। ऐसा करुगी तो जोखन महाराज मरी जान ले लेंगे।”

“जोखन की बात बाद में होगी पहले मुझे तुमसे ही एक जरूरी बात कहनी है। तुम सब काम-धाम छोड़कर ‘प्राण छोड़ो आज गृहकाज’ वाली शैली पर मेरे सामने आकर बैठो।”

“क्या बहुत ही खास बात है? आपके इस तरह से कहने से तो मुझे अपनी सांस ही रुकती हुई सी लग रही है।”

“सांस रोककर प्राणायाम करने की जरूरत नहीं है। बस शांत चित्त से सुनने वाली बात है।”

सिर पर धाती की पल्ला खींचकर उर्मिला मेरे सामने कुर्सी पर आकर बैठ गई और मेरा मुह देखने लगी।

उसकी उत्सुकता भरी आँखों को लक्ष्य करके मैंने कहा—“यह बात तुमसे ही मतलब रखती है, इसलिए मैं कह रहा हूँ और इसे बहुत स्थिर तथा शांत मन से सुनो।”

उर्मिला ने अपनी गदन को हल्का-सा खम देकर मुझे कहने की स्वीकृति दे दी। उसका सकेत समझकर मैंने कहना प्रारंभ कर दिया।

“बात यह है उर्मिला जी कि यह एक सुखद संयोग है कि पंडित जी यहाँ स्वयं ही वापस लौट आए। पिछले दस-बारह दिनों में उनको लेकर जो यह चिंता बनी हुई थी कि वह पता नहीं कहाँ होगा—अब स्वतः ही समाप्त हो गई। तुम जरा सोचो, यदि वह एक ही दिन और न आए होते तो मैं उनकी तलाश

मे मध्य प्रदेश चला जाता और वहाँ न जान कहा-कहा टक्कर मारता-फिरता। वह तो घर गए ही नहीं थे इसलिए मुझे व्यर्थ प्रयास होकर अतृप्त लौटना ही पड़ता। बाद में भी पता नहीं क्या-क्या विपम स्थितियाँ पैदा होती कहा नहीं जा सकता था।”

उर्मिला गहरे मनोयोग से मेरी बातें सुन रही थी। उसने मेरे बोलने में कोई बाधा नहीं दी तो मैं निबाध बोलता चला गया—“अब तुम्हें ही यह सोचना है कि आगे की योजना क्या रहेगी। जाहिर है कि पंडित जी एक-दो दिन से ज्यादा तो अब यहाँ ठहरने वाले नहीं हैं। वैसे भी शिक्षा संस्थान दस-बारह दिन ही और बंद है। तुम्हें अपने भविष्य तथा अस्तित्व के सदर्भ में निर्णय लेना है कि तुम्हारा अगला कदम क्या होगा। रुष्ट बने रहकर अथवा कटुता पूर्ण सवाद जारी रखकर तो तुम समस्या का कोई हल नहीं निकाल सकती। जो भी सर्वाधिक उचित मार्ग तुम्हारी समझ में आता हो उसी पर चलने के बारे में तय करने की बात है।”

उर्मिला मेरे चुप हो जाने के बाद भी गहराई से कुछ सोचती रही। उसे आशा थी कि मैं आगे भी शायद कुछ कहूँगा। जब मैंने आगे कुछ नहीं कहा तो उसने मुझसे पूछा—“आप मुझसे क्या करने को कहते हैं?”

“मैंने इस संबंध में कुछ भी नहीं सोचा है। यह सब तुमको ही तय करना होगा। तुम मुझसे किसी विषय में राय लोगी तो मैं शायद कुछ कह सकूँ।”

मेरी मुद्रा देखकर संभवतः उर्मिला सहम गई। उसका चेहरा उतर गया और उसने मेरी ओर इस तरह देखा जैसे मेरे इस स्वरूप का उससे पहली बार परिचय हो रहा है। वह जब से इस घर में आई थी उसने मुझे बिल्कुल दूसरे रूप में—एक उदार व्यक्ति और सहज ही घुलमिल जाने वाला स्नेही मान लिया था। वह घंटों-घंटों जिस तरह मुझसे हिल मिलकर बातें करती रही थी—संभवतः पहली बार उस व्यक्ति को उसने मेरे भीतर से अनुपस्थित पाया।

मैंने भरसक नम्र होते हुए उसे समझाया—“देखो उर्मिला! हम जो कामना करते हैं वह हमें बहुत बार नहीं मिलता पर जो मिलता है उसे भी तो हमें अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करना चाहिए या नहीं?”

उसने मेरी तरफ इस आशा से देखा जैसे उसकी मुश्किलों का कोई सरल निदान बतलाने जा रहा हूँ। वह बोली—“प्रयास क्यों नहीं किया जाना चाहिए। वह तो एक तरह से अनिवार्य है।”

“तो फिर तुम्हीं बतलाओ क्या तुम कभी यह सोच सकती थी कि पंडितजी

दो सप्ताह में ही इतने बदल जाएंगे कि वह तुम्हारी किसी भी अप्रसन्नता पर अपनी कोई विध्वंसक प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगे। यह सिर्फ एक परिवर्तन ही नहीं है कि उन्होंने तुम्हारी मेरी खुशी के लिए तुम्हारे द्वारा बनाकर लाई गई काफी खुशी से पों ली और एक बार भी मुंह नहीं बिगाड़ा। इसे तुम यों समझो कि वह स्वयं को तुम्हारे अनुरूप बनाने के रास्ते पर चल पड़े हैं। तुम्हें उनसे यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि केवल वही समझौते की जगह पर पाद बढ़ाते चले और तुम उनकी दिशा में एक कदम भी न बढ़ो। पारस्परिकता का यही तकाजा है कि तुम उनके मनोभावों को समझने के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करो।”

उर्मिला को मेरा सुझाव कुछ तथ्यपूर्ण लगा और वह बोली—“अगर आदमी का अतर्पण बदल जाता है तो फिर बाहर का व्यवहार भी बदलता ही है। मैं नहीं जानती कि वह कितनी देर तक इस बदली हुई मन-स्थिति को यथास्थिति में रख पाएंगे। आप कहते हैं तो मैं आपके कहे अनुसार ही स्वयं को बनाने का प्रयास करूंगी।”

मैंने गंभीरता से उसकी बात सुनी और उसे सहज बनाने के उद्देश्य से बोला—“मेरे कहने से अगर तुम स्वयं को बदलोगी तो वह वास्तविक बदलना नहीं होगा। हम जिनको प्यार करते हैं, उनकी खुशी के लिए ही अपने को उनके अनुरूप ढालने में खुशी अनुभव करते हैं। प्रेम और कर्तव्य का यही अंतर है। कर्तव्य ‘यह तो करना ही चाहिए’ पर बल देता है तो प्रेम हमारे भीतर की उमंग से उमड़ता है। तब हमें किसी के लिए देने में भी आनंद और चरम उल्लास की अनुभूति होती है।”

वह न जाने क्या सोचकर उदासी से बोली—“काश! ऐसा हो सकना संभव हुआ होता!”

“मुझे नहीं लगता कि तुम्हारे हाथ से सब कुछ निकल चुका है और अब उसे पाना असंभव हो चला है।”

“प्रेम की दूब अत्यंत कोमल होती है। उपेक्षा के आतप से एक बार झुलस जाने के बाद वह पुनः हरियाली प्राप्त नहीं कर पाती। मेरे मन में प्रेम नाम की कोई तरंग अब नहीं उठती। वह नदी अब पूरी तरह सूख चुकी है—वहा रेत की शक्ल में भरी उमंगें ही उड़ती रहती हैं।”

“मैं इस संबंध में कुछ नहीं जानता इसलिए अधिकाधिक रूप से कुछ कह भी नहीं सकता पर मानव स्वभाव को जानने-समझने के प्रयास में मैंने यही देखा है कि हमारे भीतर का कोई संवेग कभी नहीं मरता, जिसे हम मरा हुआ समझ बैठते

है वह भी पता नहीं अपने लिए किधर से प्राणवायु खींचकर पुनः पुनः जीवित हो उठता है। मैं इसे इसी जन्म में होने वाले पुनर्जन्मों में गिनता हूँ। जिस प्रेम की तुम मर जाने की बात करती हो, वह भी कभी नहीं मरता पश्चिम वाले पहली दृष्टि के प्रेम को बड़ा महत्त्व देते हैं और उसी को लेकर बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं पर वह एक स्त्री और पुरुष के बीच वहां जीवन पर्यंत चलता है? आज तो वहां इतनी धत्तरे की है कि 'लव एट फर्स्ट साइट' का दम भरने वाले भी तीन-तीन बार तलाक ले-देकर फिर से शादियां रचाने को गर्दने नचाते घूमते हैं। फिर क्या होता है इस 'लव एट फर्स्ट साइट' अथवा 'प्रथम दृष्टि में प्रेम का?'

उर्मिला बोली—“हमारे पूरब में भी क्या इसको लेकर बड़ी बातें नहीं की जाती?”

“मैं बातों में नहीं जाता। मैं तो तुमसे ही पूछता हूँ कि क्या यह स्थिति अपरिहार्य है? इस देश में तो शादी के बाद ही प्रेम की परंपरा है। स्त्री-पुरुष एक बार परिणय-सूत्र में बंध जाने के बाद ताजिदगी एक दूसरे के साथ रहकर जीवन-यापन करते रहे हैं। झगड़े-टंटे की बात तो दरगुजर नहीं की जा सकती पर उसे लेकर परिवार और वैवाहिक जीवन में विखंडन होता हो, यह अपवाद स्वरूप ही देखने को मिलता है। दरअसल हम जिसे प्रथम दृष्टि का प्रेम कहते हैं वह और कुछ नहीं महज 'इनफेचुएशन' (मोहजनित उत्तेजना) है। यदि वह सच्चा प्रेम हो तो उसका ज्वार कुछ महीनों अथवा वर्षों के दैहिक भाग के बाद क्यों भाटे में बदल जाएगा?”

“मैं वह सब तो नहीं जानती पर यह बराबर महसूस करती हूँ कि मैं एक सास लेती हुई शव मात्र रह गई हूँ। मेरे संवेग आवेग चुक गए हैं और वह फिर से पैदा हो पाएंगे इसमें मुझे पूर्ण संदेह है।”

“जितना मैं तुम्हें जान पाया हूँ उससे तो मुझे तुम्हारी वह स्थिति नहीं लगती। तुम्हारे भीतर ललक-चहक, उत्सुकता-उमंग सभी कुछ तो मैंने पिछले दिनों कितने ही अवसरों पर देखी है। सहज उल्लास से चमकती तुम्हारी आंखों की दीप्ति भी अभी मेरी स्मृति में पूर्ण सुरक्षित है फिर तुम अपने को शव कैसे कहती हो?”

“इसलिए कि मेरी जीने की इच्छा ही समाप्त हो गई है।”

“तो फिर मैं तुम्हें अपने पति के साथ जाने के लिए कभी नहीं कहूंगा। महज लोकाचार और औपचारिक स्तर पर दाम्पत्य का निर्वाह तो अनाचार की श्रेणी में ही आता है। मन पर बोझ रखकर किसी की पत्नी बनी रहो, मैं यह कभी नहीं कहूंगा। फिर तो बस यही रास्ता बचता है कि अपने लिए कोई नई तलाश, किसी नए रास्ते

के बारे में सोचो। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखो कि किसी के स्वभावगत गुण दोष को लेकर आगे कोई निर्णय मत लेना। उसे भी मैं प्रेम की श्रेणी में नहीं रखता क्योंकि हम सहसा जिसके प्रति आकर्षित होते हैं—प्रथम दृष्टि में उसके भीतर के समूचपन से तदाकार नहीं होते। हर व्यक्ति अंश-अंश करके टुकड़ों में ही हमारे सामने व्यक्त होता है और फिर वह कुल मिलाकर जो कुछ होता है उसमें सारा कुछ स्पृहणीय तथा संगत भी नहीं होता।”

उर्मिला मरी लंबी मौमोसा बड़े धैर्य से सुन रही थी। मैं बोला—“अब यह सब बहुत हो चुका। मरी बातों से तुम्हारा सिर दुखने लगा होगा। यही अच्छा होगा कि तुम जाकर अब आराम करो। हम लोग फिर से बैठकर इत्मीनान से हर पहलू पर विचार कर सकते हैं। देर आराम दुरुस्त आराम की भी गुंजाइश बनी रहनी चाहिए।”

मैं उर्मिला को वहीं छोड़कर बाहर निकल गया। पंडित मुकुंद माधव लान में आगम कुर्सी पर लंबे होकर लेटे थे और किसी वृहदाकार पीथे को अवलोकन कर रहे थे। निश्चय ही वह कोई दर्शनशास्त्र का ग्रंथ था।

मैंने उन्हें बाधा देना ठीक नहीं समझा और अपने कमरे में जाकर कई दिनों से इकट्ठे हो गए खतों के उत्तर लिखने के बारे में सोचने लगा।

मैंने उर्मिला को वहीं छोड़कर बाहर निकल गया। पंडित मुकुंद माधव लान में आगम कुर्सी पर लंबे होकर लेटे थे और किसी वृहदाकार पीथे को अवलोकन कर रहे थे। निश्चय ही वह कोई दर्शनशास्त्र का ग्रंथ था। मैंने उन्हें बाधा देना ठीक नहीं समझा और अपने कमरे में जाकर कई दिनों से इकट्ठे हो गए खतों के उत्तर लिखने के बारे में सोचने लगा।

उर्मिला पर मेरे समझाने बुझाने का यह प्रभाव पड़ा कि उसने स्वयं की यथाशक्ति सहज बनाए रखने का प्रयास किया। शाम को खाना उसने जोखन की नहीं बनाने दिया और स्वयं ही सारी सब्जियाँ पुलाव और खीर बनाई। उसमें वादाम, किसमिस वगैरह भी डाले। निश्चय ही यह व्यजन उसके पति पंडित मुकुंद माधव की रुचि के थे। उसने बहुत अग्रह के बावजूद हमारे साथ खाना नहीं खाया—बल्कि हम दोनों को गरम खाना परोसा।

उर्मिला के परिवर्तन का प्रभाव उसके पति पर भी हुआ और वह सरल भाव से बातें करते हुए मुस्कुराते रहे। एक बार भी ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि उर्मिला और उनके बीच में कोई छोटी-सी भी गतिरोध है। भले ही वह एक-दूसरे से मुखर होकर संवाद नहीं कर रहे थे पर उनके बीच सहज सौमनस्य का अभाव नहीं देख पड़ता था।

रात को खाना खत्म करके मैं और पंडित मुकुंद माधव लॉन पर जाकर टहलने लगे। थोड़ी ही देर में अपना खाना पीना करके उर्मिला भी हम लोगों के साथ आकर टहलने लगी।

इधर-उधर की बातें करते हुए हम लोग काफी देर तक लॉन की ठंडी घास पर घूमते रहे और पंडित जी अपनी दक्षिण यात्रा के विविध अनुभव सुनाते रहे।

जब आसमान में चांद काफी ऊपर आ गया तो मैं बोली—“आईए अब थोड़ी देर बैठकर गप-शप करते हैं। वैसे भी अभी नींद तो किसी को नहीं आ रही है।” शाम को कुछ बादल हो जाने से हवा में भी थोड़ी-सी ठंड का रमक आ गई थी। इसलिए लॉन में कुर्सियाँ डालकर बैठना खुशगवार लग रहा था।

पंडित जी और मैं लॉन में कुर्सियाँ डालकर बैठ गए तो वह बोली—“आज क्या

आप काफी पीने के मूड में नहीं हैं?”

उन्होंने उर्मिला की ओर देखकर कहा—“यह इतनी अच्छी काफी बनाती है कि अगर हम लोग काफी पीते हुए वार्तालाप करें तो चादनी और मादक बयार का आनंद एक साथ कई गुना बढ़ जाए।”

उर्मिला के मुह पर मुस्कान की दीप्ति खिल उठी। वह उठते हुए बोली—“हा यह बात एकदम सटीक कही। मैं अभी काफी बनाकर लाती हूँ।”

मै बोला—“वैसे तो हमारे जोखन पंडित भी काफी ठीक-ठीक ही बना लेते हैं और सब चीजों का अनुपात भी गड़बड़ नहीं होने देते पर उर्मिला जी की तो बात ही कुछ अलग है। उर्मिला जी ही यह कष्ट करें तो बढ़िया काफी के साथ बतरस का आनंद वास्तव में कुछ अलग तरह का ही होगा।”

उर्मिला उठकर काफी बनाने चली गई तो मै पंडित मुकुंद माधव से वाला—“पंडित जी यह काफी वाला सुझाव आपने खूब दिया। दरअसल यही छोटी-छोटी बातें हैं जो हमारे भीतर आनंद की लहरें पैदा करती रहती हैं। आप यदि अपने व्यवहार में किंचित मृदु हो उठें तो उर्मिला के भीतर जो अवसाद घर कर गया है वह चुटकी बजाते समाप्त हो जाए।”

पंडित जी कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद बोले—“यह आप सही कहते हैं महाराज। मैं पिछले कई दिनों से इसी बात पर लगातार चिंतन कर रहा हूँ। वास्तव में कुछ छोटी और मामूली बातें किस तरह दाम्पत्य को सुखी अथवा क्लेशकारी बना देती हैं इस पर हम विचार करना ही छोड़ देते हैं और तभी सकट उपस्थित हो उठता है। अपने निकटस्थ व्यक्ति के प्रति अनजाने में असावधान हो जाना उसकी अवमानना का लक्षण है—यह बात दिमाग से निकल जाती है। मैं भी इस त्रुटि को स्वीकार करता हूँ और मानता हूँ कि दाम्पत्य जीवन में परस्पर व्यंग्य बाण चलाने से बड़ा अपराध कुछ भी नहीं है। हम सब मनुष्य कूप के समान हैं। उसमें से वही प्रतिध्वनि निकलती है जो ध्वनि उसमें ध्वनित होती है।

पंडित मुकुंद माधव के स्वभाव में इस चमत्कार पूर्ण परिवर्तन को देखकर मैं चकित रह गया और सोचने लगा यदि सगतिपूर्ण सोच मनुष्य की बुद्धि का साथ देने लगे तो संसार का कितना भारी कल्याण हो जाए? थोड़े से कटु शब्द हमारे जीवन में कितना कलह कोलाहल मचाए रहते हैं। वह हमारे भीतर के रस निर्झर को सुखाकर रख देते हैं। व्यवहार की कटुता का आतप हमें जितना दग्ध करता है उतना किसी भी अन्य आग से संभव नहीं है।

उर्मिला ट्रे में काफी के तीन मग और कटोरी में चीनी लेकर आ गई। पंडित

जी उठे और लपककर वरांडे की ओर जाते हुए बोले—“ठहरो। मैं स्टूल उठाकर लाता हूँ।”

। वह आधे मिनट से भी कम समय में हल्की-सी गोल-मेज उठा लाए और लॉन में रखते हुए बोले—“लो इस पर रख दो।”

उर्मिला ने ट्रे मेज पर टिका दी और बोली—“वैसे तो मैंने शुगर भी काफी के साथ फेट दी थी पर काफी में मीठा कम लगे तो मिला लेना।”

निश्चय ही यह बात उसने अपने पति से ही कही थी पर उसकी ध्वनि में निर्व्यक्तता का पुट था।

काफी की एक-दो घूट लेने के बाद ही पंडित मुकुंद माधव बोले—“वास्तव में यह एक अत्यंत सुंदर पेय है। मैं तो अब तक इसके आस्वाद से वंचित ही रहा। वास्तव में इसे अपनाने का श्रेय मैं दक्षिण यात्रा को ही देता हूँ। वहां तो जन सामान्य इसे भोजन की तरह ग्रहण करते हैं।”

मैंने उन्हें बतलाया—“काफी में ठोस भोजन के गुणों की कमी नहीं है। इसी अर्थ में यह चाय और दूसरे साधारण पेयों से एकदम अलग है। इसके अतिरिक्त प्रवास में पानी बदल जाने से पेट पर जो घातक प्रभाव होने लगते हैं उनका भी काफी पीने से बहुत कुछ शमन हो जाता है।”

“यह आप ठीक ही कहते हैं।” बोलकर पंडित जी पूरे आनंद से काफी सुडकने लगे। उन्होंने कटोरी की चीनी को छुआ तक नहीं। मुझे इस बात पर आश्चर्य हुआ कि काफी में पंडित जी की रुचि के अनुरूप मिठास नहीं थी पर वह इस संबंध में कुछ नहीं बोले।

मैंने पहले उर्मिला की ओर देखा, वह विचारमग्न लग रही थी पर उसके मुख पर किसी प्रकार का तनाव नहीं था। इसके बाद मैंने पंडित जी की ओर देखा वह भी मुझे सहज ही लगे।

अनुकूल अवसर देखकर मैं बोला—“पंडित जी मैं आपको अपने एक मित्र के संबंध में बतलाना चाहता हूँ।”

वह काफी का मग मेज पर टिकाकर बोले—“अवश्य बतलाइए। अभी तक तो हमने आपके किसी मित्र को आपके पास आते ही नहीं देखा। यह बड़ी विचित्र बात है कि आपके जैसे विश्रुत बौद्धिक व्यक्ति के पास आकर लोग इस तरह तग ही नहीं करते जिस प्रकार हम कर रहे हैं।”

मैं हसकर बोला—“आप क्या तग कर रहे हैं—आप तो यहां रहे ही नहीं।”

“फिर भी रह तो रहे ही है। कहकर उन्होंने उर्मिला की ओर आखे उठाकर

देखा जिसका आशय यही था कि वह चाहे बराबर न रहे हों पर उर्मिला तो इस घर में इतने दिन से बराबर रह ही रही है।

मैने अपनी बात आगे बढ़ाई—“हा तो मैं अपने मित्र और उनकी श्रीमती जी के बारे में एक सच्ची घटना आपको सुनाने जा रहा हूँ। मेरे वह मित्र डॉक्टर हैं और उन्हें संगीत से जबरदस्त चिढ़ है।”

पंडित मुकुंद माधव ने हैरत से कहा—“अय ? डॉक्टर को संगीत से चिढ़ ? यह तो आपने एक अनोखी बात बतलाई। अरे भाई उनका तो पेशा ही ऐसा है जिसमें रोग, शोक, मरण, हाय-हत्या निरंतर लगी ही रहती है। इन सबसे थक ऊबकर तो आदमी संगीत और कला के प्रति ही आकृष्ट होता है। पर आपके डॉक्टर मित्र एक अनोखे जीव हैं।”

“हां उन्हें संगीत से ही चिढ़ है। वैसे पुस्तकें खूब पढ़ते हैं। बहुत सभ्य, सुसंस्कृत और भद्र सज्जन हैं। अरसिक तो आप उन्हें किसी भी अर्थ में कह ही नहीं सकते।”

अपनी बात रोककर मैने काफी की एक घूंट भरी और अपनी बात आगे बढ़ाई—“संयोग से डॉक्टर महोदय की जिस युवती से शादी हुई वह डॉक्टरी पेशे में नहीं है। वह एक कॉलेज में रसायन शास्त्र की प्रोफेसर हैं। पर उनकी नृत्य और संगीत में गहरी रुचि है। विवाह के समय डॉक्टर मित्र को इस संबंध में कोई जानकारी नहीं थी।

“शादी के कुछ ही दिनों बाद उनकी श्रीमती जी को पता चल गया कि उनके पति महाशय संगीत से बुरी तरह बिदकते हैं। उन्होंने पति की रुचि का खयाल रखते हुए, तानपुरे, हारमोनियम और घुंघरुओं को तिलांजलि दे दी। उनके वाद्य यंत्र एक कोने में पड़े धूल से अटते चले गए। जो लोग डॉक्टर की पत्नी की संगीत के प्रति गहरी सलग्नता से परिचित थे उन्होंने उन्हें समारोहों के अवसर पर आमंत्रण-निमंत्रण भेजने बंद नहीं किए। पति की अरुचि का खयाल करके वह कहीं भी नहीं आती-जाती थी। पति जब कभी इधर-उधर होते थे तो लंबे अभ्यासवश बेचारी थोड़ा बहुत गुनगुना भर लेती थी पर अपने लगाव को कभी भी उनकी उपस्थिति में प्रदर्शित नहीं करती थी।

“होते-होते विवाह को पूरा साल निकल गया। उन दोनों ने अपनी शादी की वर्षगांठ पर अपने परिचितों, मित्रों को बड़े आग्रह से आमंत्रित किया। खूब अच्छा खाना-पीना हुआ पर संगीत की महफिल नहीं जमी। डॉक्टर साहब की श्रीमती जी की जो अतरंग सहेलियाँ और सहयोगी प्रोफेसर इस अवसर पर उपस्थित थीं उन्होंने

अर्चना जी (जो उनका नाम था) को गाने को कहा। उन्होंने अपनी सखियों की बात टाल दी और ऐसा भाव जतलाया मानो गाने बजाने से उनका कभी कोई संबंध ही न रहा हो।

“अब उन्होंने डॉक्टर साहब से आग्रह किया कि वही अर्चना जी से गाने का अनुरोध करें।

“अर्चना जी के पति डॉक्टर वर्मा बोले—“भई ये सब जब इतना इंसार कर रही है तो कुछ गा दो। नहीं गाओगी तो यह सब अपने मन में यही विचार लेकर जाएगी कि मेरे जैसे अरसिक के संसर्ग में रहकर तुम गाना-बजाना भूल गई हो।

“अर्चना ने अपने पति की ओर अचभे से देखा पर फिर उसने यही मान लिया कि वह सिर्फ ऊपरी मन से आग्रह कर रहे हैं। उसने टालते हुए कहा—‘कैसे माया जाएगा—तबले पर सगत करने के लिए तो कोई है ही नहीं?’

“अब तबले की परख ऐसी थी कि उस शर्त को कौन पूरी करे? वहाँ एक दो लोग ऐसे होंगे भी जो तबले पर थप-थप करना बराए नाम जानते भी हों मगर बकायदा तबला बजाने वाला कोई नहीं था।

“अब एक दो मेहमानों ने कहा—‘चलिए बिना बाजे-वाजे के ही एकाध गाना गा दीजिए। यही बात अर्चना के डॉक्टर पति ने भी कही। मगर जिस अर्चना ने पति की नापसंदगी की वजह से तबले, तानपुर और हारमोनियम को एक तरह से बनवास दे दिया था वह भला किसी के भी आग्रह से क्यों गाती?

“जब अर्चना ने किसी की बात पर गाने की होमी ही नहीं भरी तो डॉक्टर वर्मा स्वयं उठकर गए और हारमोनियम की गर्द-झाड़कर उसे महफिल के बीच उठा लाए। इस पर सभी मेहमानों ने प्रसन्नता से तालियाँ बजाईं।

“इस पर अर्चना की सहेलिया बोली—‘तो अब तो खुद तुम्हारे श्रीमान जी ही गाने की फरमाइश कर रहे हैं—इन्हें कैसे टालोगी?’

“अर्चना तो न गाने की जैसे कसम ही खा बैठी थी—‘बाली बिना तबले की सगत के मैं गाने की आदी नहीं हूँ।’

“मेहमानों में से कोई बोला—‘बस तो अब गाना हो चुका। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।’

“इस पर डॉक्टर वर्मा फिर उठकर गए और तबले की जोड़ी उठा लाए। तबले सामने रखकर बोले—‘चलो तुम हारमोनियम पर पी-पी तो शुरू करो—मैं तबले पर उल्टी सीधी धप-धप कर देखता हूँ।’

“इस बात पर सारी महफिल में इतनी हसी हुई कि मैं आपको क्या बतलाऊ।

डाक्टर वर्मा को हैरत से देखने वालों की वहा कभी नहीं थी क्योंकि ज्यादा मेहमान जानते थे वर्मा जी का गाने बजाने से दूर का रिश्ता भी नहीं है।

“अर्चना तो कभी सपने में भी नहीं सोच सकती थी कि वर्मा जी तबला छूते होंगे। जब वर्मा जी ने तबलों को सामने रखकर उनकी डोरिया ठीक-ठाक कसी और हथेलियों से तबलों पर थाप दी तो उनके सधे हाथों का कमाल किसी से छिपा नहीं रहा। अर्चना तो जैसे अंचभे के समुद्र में डूबने-उतराने लगी। वह तो यही जानती थी कि उसके पति ने तबला-हारमोनियम आदि वाद्यों को कभी छुआ भी नहीं होगा।

“अब बेचारी अर्चना के सामने कोई ऐसा बहाना नहीं रह गया था कि वह गाने से इनकार कर दे। उसने हारमोनियम पर स्वर निकालने शुरू किए तो डॉक्टर साहब ने भी तबलों पर हल्की सी ठुनक शुरू कर दी। ज्योंही स्वर ताल का अनुपात सयमित हुआ, अर्चना ने संयत स्वर में कोई राग शुरू कर दिया। डॉक्टर वर्मा ने बड़े सधे हाथों से तबला बजाना शुरू कर दिया। कुरते की बांहों को कुहनियों तक चढ़ाए जब डॉक्टर वर्मा एकांत तल्लीनता से तबला बजा रहे थे तो हम लोग मुंह बाए उनका कमाल देख रहे थे। एक बार को तो सारी महफिल चौक गई। बेचारी अर्चना की क्या हालत हुई होगी इसका तो बस अनुमान ही लगाया जा सकता है। अर्चना ने सरल संगीत के साथ-साथ पूर्वा धनाश्री वगैरह कई राग भी गाए पर साहब डॉक्टर साहब ने भी वह समा बांधा कि लगता था सात पुश्तों के तबलची थे।

“जब देर गए रात को महफिल बरखास्त हुई तो मैंने डॉक्टर को धर लिया और पूछा—‘भई वर्मा, यह तुमने किस भूत-प्रेत को सिद्ध किया है जो आज तुम्हारे सिर चढ़कर सारी सभा को मंत्रकीलित कर गया। मुझे अपनी हथेलियां तो दिखाओ। मैं सोच भी नहीं सकता कि यह हाथ इतने बाकमाल हो सकते हैं।’

“उस समय अर्चना तो जैसे सक्ते के आलम में ही पहुंच गई थी। बेचारी कुछ भी न समझ पा रही थी, न बोल पाने की हालत में थी।

“वह हम दोनों को वहीं छोड़कर चली गई और दो बीड़ा-पान बनाकर लाई तो उसे जैसे कुछ होश आया—उसने गद्गद कंठ से पूछा—‘आपने यह तबला वादन कहा सीखा। आपके डर से तो मैंने गाना ही छोड़ दिया था।’

“डॉक्टर वर्मा ने हंसते हुए कहा—‘जानेमन। वाकई मेरी संगीत में कोई दिलचस्पी नहीं थी मगर जब मुझे पता चला कि तुम संगीत से जबरदस्त लगाव रखती हो और बाकायदा गाती हो तो मैंने चोरी छुपे भगवान दास तबला वादक के यहा जाना शुरू कर दिया और मैं क्लीनिक बंद हो जाने के बाद एक घंटा रेगुलरली वहा ना-धी-धी-ना सीखने लगा। पिछले छह महीने से मैं वहां जा रहा था और मैंने

उससे यह वायदा ले लिया था कि वह इस बात का जिक्र किसी से भी नहीं करेगा। मे यह बात जानता था कि हमारी शादी की एनवरसरी पर तुमसे गाने का इसरार किया जाएगा और तुम मेरा खयाल करके गाने से इनकार करोगी। उस वक्त मैं तुम्हें तबले पर संगत देकर बतला दूंगा कि मैं तुम्हें किस कदर चाहता हूँ।’

“अंत में डॉक्टर वर्मा ने अर्चना के कंधे पर हाथ रखते हुए गहरी ममता से कहा—‘अब आगे से तुम देखोगी कि तुम्हारा गाना बाकायदा जारी रहेगा और यह तावेदार आपके साथ तबले पर संगत के लिए हमेशा हाजिर रहेगा।’

मैं अपनी बात समाप्त करके चुप हो गया तो पंडित मुकुंद माधव जैसे सोते से जागे और उन्होंने पूछा—“प्रभाकर जी। क्या यह सच्ची घटना है या आपने अपनी कोई कहानी सुना दी है?”

मैंने हसते हुए कहा—“इससे तो कोई खास अतर पडने वाला नहीं है। घटना की सत्यता मुख्य मुद्दा नहीं है। उसके परिणाम की सार्थकता ही विचारणीय है, आप इसके ऐतिहासिक यथार्थ पर न जाएं बस यही देखे कि दाम्पत्य संबंधों में पारस्परिक समझ का क्या महत्त्व है। वही तो उन्हें तदाकार करती है।”

उर्मिला वर्मा दंपती का आख्यान सुनकर अभिभूत हो उठी थी। उसका मुख चादनी में खिला-खिला लग रहा था। वह सहज रूप से कहने लगी—“असल में दाम्पत्य जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि जो थोड़े से महत्त्वपूर्ण क्षण हसी-खुशी से बिताने के लिए मिलते हैं उन्हें अनावश्यक कलह में खो दिया जाता है। निश्चय ही जागतिक आपाधापी भी उनको विनष्ट करने पर कمر कसे रहती है तथापि उन्हें किसी कदर पकड़ा जा सकता है। यह प्रायः भुला ही दिया जाता है कि सग साथ रहने के लिए जो बहुत गिने चुने पल मिले हैं, उन्हें पंख फैलाकर उड़ जाने से पहले अपनी गिरफ्त में ले लिया जाए। धीरे-धीरे जड़ता इस सीमा तक जा पहुँचती है कि यह सत्य किसी के बार-बार याद दिलाने पर भी याद नहीं रहता।”

मैं बोला—“अंग्रेजी में बेटर लेट दैन नेवर अर्थात् देर आयद दुरुस्त आयद इसी को कहा जाता है।”

इस समय पंडित मुकुंद माधव भी काफी बदले-बदले और भावाभिभूत लग रहे थे। वह बोले—“जीवन का यही तो सबसे बड़ा दुखात है कि हम बसत ऋतु में भी जबरन पतझड़ को आमंत्रित करते हैं। यह नहीं जानते कि फिर-फिर बार प्रकृति में ही बसत की आवृत्ति होती है। मनुष्य के जीवन में उसकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है। यहां एक मौसम एक बार को ही मिला है उसे भरपूर जी कर काट लो या रो-धो कर।”

“आप ठीक कहते हैं पंडित जी वसंत की स्मृति में जीने से जो वसंत में ही जीना अच्छा है।”

पंडित मुकुंद माधव एक दीर्घ सांस खींचकर बोले, “पर वह भी हो कहा जाता है? हम अभागों, मनुष्य तो हर क्षण आंदोलित होते रहते हैं और स्वयं को कहीं भी रेखांकित नहीं कर पाते। पूरी जिंदगी सूझी से सूखे से सी झार जाती है और हम जी लेने से बचिंत रह जाते हैं।”

मल्लिका ने एक-दो बार उबासियां लीं तो मुझे लगा दार्शनिक चिन्तन का सिलसिला लगा खिंचने में उसे नींद आने लगी है।

पंडित मुकुंद माधव बोले—“भाई जी हमें गृह नगर छोड़े हुए बहुत दिनों हो गए। मैं सोचता हूँ कि कब हमें निकल जाना चाहिए। दिन की किसी गाड़ी से निकलने में आरक्षण के इंतजार में भी नहीं बइचा पड़ेगा।”

मैंने उनके 'हम' शब्द पर गौर किया, इसका आशय स्पष्ट ही था कि वह उर्मिला से समझौता करने की मासिकता बन्ना चुके थे। मैंने उर्मिला का चेहरा देखा, वहाँ भी कोई विरोधी भाव नजर नहीं आया।

दोनों पति-पत्नी एक साथ ही उठे और सोने के कमरे की ओर बढ़ गए। यह पहली बार हो रहा था कि मोरे यहाँ आने के बाद, वह दोनों एक साथ एक ही शयनकक्ष में सोने के लिए गए हों।

उस क्षण एक मादक गंध सुझे अपने आस-पास फैलती लगी। एक दूसरे से बहुत दूर-दूर खिटकी भावधारा के दो किनारों पर जैसे सहसा एक-सुल निर्बल हो उठा।

अपने आस-पास छिन्की चादनी की मिथुन से जैसे एक अतिचार्य समीप हुआ गया। बाहर भीतर से मैंने स्वयं को फूल जैसा हल्का अनुभव किया और अपने सोपे के कमरे में चला गया।

१३ भाग एक के

[illegible]



जन्म : 10 अगस्त 1933 मुजफ्फर नगर

शिक्षा : हिंदी साहित्य तथा राजनीति शास्त्र में एम.ए.

प्रकाशन : गत चालीस वर्षों में लगभग ढाई सौ कहानियां हिंदी की सभी शीर्ष पत्रिकाओं में प्रकाशित।

प्रकाशित कथा संग्रह : विशेष चर्चित : केवल पिता, धरातल, काल विदूषक, सिलसिला अकर्मक क्रिया, पुल टूटते हुए, खारिज और बेदखल।

चर्चित कहानियां प्रकाशित उपन्यास : चालीस विशेष चर्चित : दराजों में बद दस्तावेज, लौटते हुए, कई अंधेरी के पार प्रथम परिचय, घर न घाट, सुबह की तलाश, बैरंग खत, माया मृग व्यंग्य संग्रह : किस्सा एक खरगोश का, दुनिया मेरे आगे।

विशेष : अनेक रचनाओं का अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में अनुवाद

पुरस्कार : अनेक बार हिंदी संस्थान उत्तर प्रदेश एवं अन्य संस्थानों से सम्मानित एवं पुरस्कृत।

शोध : व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर कई विश्वविद्यालयों में निरंतर शोध कार्य :

सम्प्रति वर्तमान साहित्य मासिक का संपादन

वर्तमान पता : एफ. ई. नया कवि नगर गाजियाबाद 201002

फोन : 4758752 4714845